मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 66 ● वर्ष 8, अंक 1 ● मार्च 2018 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

किसानों-आदिवासियों के आन्दोलन के मुद्दे, नतीजे और सबक़ 11

स्मृति में प्रेरणा, विचारों में दिशा - शहीदों के विचारों पर विशेष खण्ड 7-10

त्रिपुरा विधानसभा चुनाव के नतीजे और संसदीय वाम का संकट 13

सत्ता में बैठे फ़ासिस्ट अपने असली काम में लगे हुए हैं

मज़दूर साथियो, सावधान! श्रम क़ानूनों में बदलाव करके स्थायी रोज़गार को ख़त्म करने की दिशा में क़दम बढ़ा चुकी है सरकार

मोदी सरकार के कार्यकाल का चौथा वर्ष आते-आते इसकी नीतियों और हरकतों से जनता का असन्तोष बहुत बड़े पैमाने पर फैल चुका है। मोदी और भाजपा के ''भक्तों'' में से भी बहुतों का अलग-अलग कारणों से इससे मोहभंग तेज़ी से हो रहा है। हाल के उपचुनावों में भाजपा की करारी हार की तरह-तरह से व्याख्या हो रही है, लेकिन यह तो तय है कि लोगों का ग़ुस्सा और हताशा बढ़ता जा रहा है। देशभर में छात्रों-युवाओं, मज़दूरों-कर्मचारियों, किसानों, आदिवासियों आदि के आन्दोलनों का सिलसिला लगातार जारी है। बेरोज़गारी सारे रिकॉर्ड तोड़ रही है, महँगाई कम होने के बजाय और बढ़ती जा रही है, चन्द बड़े घरानों का ज़रख़रीद मीडिया द्वारा ढँकने-छुपाने की तमाम कोशिशों के बावजूद हर दिन नये-नये घपले-घोटाले सामने आने से भाजपा के फ़र्ज़ी सदाचार की धोती और भी नीचे खिसकती जा रही है।

ऐसे में घबराया हुआ संघी गिरोह अगले चुनाव से पहले जनता का ध्यान भटकाने और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। फ़ासिस्ट सत्ता में आने के बाद उसे अपने कब्ज़े में बनाये रखने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। नौकरशाही, सेना-पुलिस, न्यायपालिका, चुनाव आयोग आदि को वे अपना दास पहले ही बना चुके हैं। नफ़रत और झूठ के अन्धाधुन्ध प्रचार से देशभर में उन्होंने जुनूनी अन्धभक्तों की ऐसी भीड़ खड़ी कर ली है जिसे नकली भावनात्मक मुद्दों की रौ में बहाकर वे कभी उपद्रव खड़े कर सकते हैं। दूसरी ओर, इनसे मुक़ाबला करने वाली संगठित शक्तियों का घोर अभाव है। समाज के अलग-अलग तबक़े अपनी-अपनी मुश्किलों से तंग आकर सड़कों पर उतर रहे हैं, लेकिन उनके पास इस संगठित फ़ासिस्ट संगठन, जिसके हाथ में अब राज्यसत्ता भी है, से मुक़ाबला करने के लिए ज़रूरी एकता, संगठन और दिशा नहीं है।

ऐसे में, सत्ता में बैठे फ़ासिस्ट अपने असली काम, यानी देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा करने में लगातार लगे हुए हैं। पूँजीवाद फ़ासिस्टों का सहारा लेता ही इसीलिए है क्योंकि आर्थिकसंकट के कारण उसे अपने मुनाफ़े को बचाये रखने के लिए ऐसी सत्ता की ज़रूरत होती है जो सारे नियम-क़ानूनों को ताक पर रखकर नंगई से उन्हें

सम्पादक मण्डल

लूट की खुली छूट दे, मज़दूरों को जमकर निचोड़े और जनता के असन्तोष को काबू में करने के लिए उसे झूठे धर्म-नस्ल आदि के नारों पर बाँट और बहका सके।

मोदी सरकार के करीब चार साल के कार्यकाल में एक ओर तो देशी-विदेशी बड़ी कम्पनियों को इस देश की दौलत को दोनों हाथों से लूटने की छूट दी गयी है, दूसरी ओर मज़दूरों-कर्मचारियों के बचे-खुचे अधिकारों को भी छीनकर उन्हें पूरी तरह से थैलीशाहों के ख़ूनी पंजों के हवाले कर देने के इंतज़ाम किये जा रहे हैं। 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंकों में हम आपको ऐसे तमाम मज़दूर-विरोधी क़दमों के बारे में बताते रहे हैं। अब सरकार उद्योगों में स्थायी रोज़गार को लगभग पूरी तरह ख़त्म करने की दिशा में क़दम बढ़ा चुकी है। (सरकारी नौकरियों में लाखों पदों को एक झटके में बेकार बताकर ख़त्म करने की क़वायद तो शुरू ही की जा चुकी है।)

केन्द्र सरकार ने पिछले दिनों एक मसविदा अधिसूचना प्रकाशित जिसके ज़रिए औद्योगिक विवाद क़ानून और मॉडल स्टैंडिंग ऑर्डर के नियमों में संशोधन करके उद्योगों में 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' को मंज़ूरी मिल जायेगी। इसके साथ ही कुछ राज्यों द्वारा औद्योगिक विवाद क़ानून में ऐसे संशोधनों को भी स्वीकृति दे दी गयी जिनके बाद 300 तक मज़दूरों को रखने वाली कम्पनियाँ सरकारी मंज़ूरी के बिना ही और बिना नोटिस दिये मज़दूरों-कर्मचारियों कीं छँटनी या कम्पनी को बन्द कर सकती हैं। अब तक अधिकांश राज्यों में यह सीमा 100 मज़दूरों की है।

कॉरपोरेट सेक्टर ठेका मज़दूर प्रणाली को पूरी तरह क़ानूनी बनाने के लिए लम्बे समय से इस ''सुधार'' के लिए दबाव बनाये हुए था। हालाँकि केन्द्र सरकार ने रेडीमेड गारमेंट और चमड़ा उद्योग में एक साल पहले ही इसे लागू करने की छूट दे दी थी, मगर नीति आयोग और पूँजीपतियों की अन्य संस्थाएँ सभी सेक्टरों में इसे लागू करने का दबाव डाल रही थीं। यह प्रावधान लागू हो जाने के बाद कम्पनियाँ अपनी ज़रूरत के मुताबिक कुछ हफ़्तों या कुछ महीनों के लिए मज़दूरों को काम पर रख सकती हैं और काम ख़त्म होते ही उन्हें बाहर निकाल सकती हैं। केन्द्र से नोटिफ़िकेशन जारी होने के बाद राज्य सरकारें भी इसके मुताबिक अपने श्रम क़ानूनों में आसानी से बदलाव कर सकती हैं।

'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' के तहत मज़दूरों को काग़ज़ पर उस कम्पनी में परमानेंट मज़दूरों के बराबर काम के घंटे, वेतन और भत्ते मिलेंगे लेकिन कॉन्ट्रैक्ट ख़त्म होने पर मज़दूर को दुबारा न लेने के लिए नियोक्ता पूरी तरह आज़ाद होगा, उसे कोई नोटिस भी नहीं देनी होगी। जहाँ तक परमानेंट मज़दूरों के बराबर सुविधाएँ मिलने की बात है, तो कारख़ानों की हालत से वाकिफ़ कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि ज़्यादातर मामलों में यह सुविधा काग़ज़ पर ही रहेगी। इसके अलावा, कम्पनियाँ अब किसी मज़दूर को ठेकेदार के बिना, सीधे 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' पर रख सकती हैं।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने हाल ही में सभी सेक्टरों में 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' लागू करने के पक्ष में तर्क दिया था कि ''बड़े पैमाने पर दुनियाभर से पूँजी-निवेश को आकर्षित करने'' के लिए ऐसा करना ज़रूरी है। सिर्फ़ इसी बात से समझा जा सकता है कि इस तथाकथित ''श्रम सुधार'' का असली मक़सद क्या

(पेज 12 पर जारी)

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के शहादत दिवस (23 मार्च) पर सच्ची आज़ादी की लड़ाई को आगे बढ़ाने का संकल्प लो!

धार्मिक जुनून, घृणित जातिवाद, फ़र्ज़ी भावनात्मक नारों और झूठे प्रचार के नशे से बाहर आओ! अपनी ज़िन्दगी की असली तस्वीर को पहचानो! देश को एक अन्धे कुएँ में धकेलने की कोशिशों को नाकाम करो! जाति-धरम के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो!

भगतसिंह की बात सुनो! नई क्रान्ति की राह चुनो!!

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

त्रिपुरा विधानसभा चुनाव के नतीजे...

(पेज 14 से आगे)

हो चुकी थी। 1980 में 'त्रिपुरा नेशनल वालण्टियर्स' और 'आमरा बंगाली' नामक संगठनों के बीच के टकराव ने जातीय दंगे का रूप ले लिया, जिसमें 1800 लोग मारे गये। इस असन्तोष को नियन्त्रित करने के लिए ही 1982 में 'त्रिपुरा आदिवासी क्षेत्र स्वायत्त ज़िला परिषद' की स्थापना हुई, जिसे 1985 में कुछ और अधिकार मिले। राज्य का 68 प्रतिशत क्षेत्र इन परिषदों के तहत आता है और इन्हें सीमित प्रशासकीय, विधायी और न्यायिक अधिकार मिले हुए हैं। इन्हें और अधिक स्वायत्तता और अधिकार देने की माँग लगातार उठती रही है। त्रिपुरा में '77 तक कांग्रेस का शासन था, फिर '78 से '88 तक और 1993 से 2018 तक वाम मोर्चे का शासन रहा। विधान सभा की 60 में से एक तिहाई यानी 20 और लोकसभा की 2 में से एक सीट आदिवासी आबादी के लिए आरक्षित है, लेकिन आदिवासी आबादी की हमेशा यह शिकायत रही है कि सभी ग़ैर-आदिवासी पार्टियाँ कुछ ऐसे दब्बू और पिछलग्गू आदिवासी उम्मीदवार चुनती हैं, जिनकी कोई अपनी आवाज़ ही नहीं होती है। 1990 के दशक में एनएलएफ़टी और एटीटीएफ़ जैसे संगठनों ने सशस्त्र विद्रोह की शुरुआत की। इन विद्रोही गुटों की सरगर्मियाँ जब शीर्ष पर थीं, तभी, यानी 16 फ़रवरी '97 को राज्य में आफ़्सपा लगा। जून 2013 में इसे 30 पुलिस थानों तक सीमित कर दिया गया और मई 2015 में पूरी तरह हटा लिया गया।

त्रिपुरा की आदिवासी आबादी का असन्तोष लम्बे समय से एक उच्च बिन्दु पर पहुँचकर ठहरा हुआ है और पिछले दशक के सरकारी दमन के आगे निरुपायता के अहसास ने एक ऐसी प्रतिक्रिया की मानसिकता पैदा की है, जिसका फ़ायदा आज फ़ासिस्ट उठा रहे हैं। आदिवासी आबादी का आन्दोलन आज अलगाववादी नहीं है। उसका एक उग्र हिस्सा है जो त्विप्रालैण्ड नाम से अलग राज्य की माँग कर रहा है, इसकी नुमाइन्दगी 'इण्डीजेनस पीपुल्स फ्रण्ट ऑफ़ त्रिपुरा' करता है, जिसने भाजपा से मोर्चा बनाकर इस चुनाव में 8 सीटें हासिल की है। दूसरा एक नरम हिस्सा है जो आदिवासी स्वायत्त ज़िला परिषदों की स्वायत्तता बढ़ाने की और उन्हें 100 प्रतिशत डायरेक्ट फ़ण्डिंग की माँग कर रहा है। इस धारा की नुमाइन्दगी 'आईएनपीटी' नामक संगठन मुख्यतः करता है। अब वाम मोर्चे की विफलता को आसानी से समझा जा सकता है। वाम मोर्चे ने सबसे लम्बे समय तक त्रिपुरा में शासन किया, लेकिन एक बुर्जुआ सुधारवादी पार्टी बुर्जुआ जनवादी दायरे में रहते हुए आर्थिक विकास और रोज़गार-सृजन के लिए जितना कुछ कर सकती थी, उसने उतना भी नहीं किया। भूमि सुधार को प्रभावी बनाकर आदिवासियों की ज़मीन की सुरक्षा के लिए कोई भी प्रभावी क़दम नहीं उठाये गये। स्वायत्त परिषदों के अधिकार और स्वायत्तता बढ़ाने की माँग को भी सिरे से ख़ारिज़ किया जाता रहा। कोकबरोक भाषा देखते-देखते मृतप्राय हो गयी। वाम मोर्चे ने भी अलगाववादी गुटों से निपटने के लिए 'आफ़्सपा' का ही सहारा लिया और उसे लम्बे समय तक बनाये रखा। आदिवासियों के बीच उसकी छवि एक बंगाली पार्टी की बन गयी। इस स्थिति का भाजपा ने भरपूर फ़ायदा उठाया। उसने बंगाली और आदिवासी आबादी में अलग-अलग ढंग से प्रचार किया। शहरी बंगाली मध्य वर्ग को उसने साम्प्रदायिकता, अन्धराष्ट्रवाद और विकास के लोकरंजक नारे पर अपने साथ खड़ा किया, जबकि आदिवासी आबादी की हताशा का पूरा लाभ उठाते हुए उसने उनके बीच पहचान की राजनीति को हवा दी और भरपूर तुष्टीकरण किया।

कुल मिलाकर कहें कि संसदीय वामपन्थियों की लम्बी अकर्मण्यता, यथास्थितिवाद और गलीज़ सामाजिक जनवादी राजनीति के कुकर्मों का ही यह फल है कि आज त्रिपुरा में फ़ासिस्टों को ऐसी सफलता मिली है। आप नीतियों की बात छोड़कर माणिक सरकार की सादगी पर लहालोट होते रहिए और वाम मोर्चे की असफलता पर छाती कूटते रहिए। जहाँ तक कांग्रेस की बात है, तो उसे इस दुर्गति को प्राप्त होना ही था। त्रिपुरा में लम्बे समय से कांग्रेस और भाजपा का अघोषित गँठजोड़ था। अब भाजपा को प्रभावी विकल्प बनते देख यदि अधिकांश कांग्रेसी उसी की नैया में सवार हो गये, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

बंगाल और पूरे देश की ही तरह त्रिपुरा में भी संसदीय वाम राजनीति की ही परिणतियाँ उजागर होकर सामने आयी हैं। यह बात एक बार फिर साफ़ हुई है कि क्रान्तिकारी वाम राजनीति के पुनरुत्थान के बिना और सभी मेहनतकश वर्गों का एक जुझारू सामाजिक आन्दोलन खडा किये बिना, और सड़कों पर मोर्चा लेने की एक लम्बी तैयारी किये बिना फ़ासिस्टों को पीछे क़तई नहीं धकेला जा सकता।

जहाँ तक देखा गया है, इन दंगों के पीछे साम्प्रदायिक नेताओं और अख़बारों का हाथ है। इस समय हिन्दुस्तान के नेताओं ने ऐसी लीद की है कि चुप ही भली। वही नेता जिन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराने का बीड़ा उठाया था और जो 'समान राष्ट्रीयता' और 'स्वराज-स्वराज' दम गजे मारते नहीं थकते थे, वही या तो अपने सिर छिपाये चुपचाप बैठे हैं या इसी धर्मान्धता के बह चले हैं। सिर छिपा कर बैठने वालों की संख्या भी क्या कम है, और क्या साम्प्रदायिकता की ऐसी प्रबल बाढ़ आयी हुई है कि वे भी इसे रोक नहीं पा रहे हैं। ऐसा लग रहा है कि भारत में नेतृत्व का दिवाला पिट गया है।

दूसरे सज्जन जो साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने में विशेष हिस्सा लेते रहे हैं, वे अखबार वाले हैं।

पत्रकारिता का व्यवसाय जो किसी समय बहुत ऊँचा समझा जाता था, आज बहुत ही गन्दा हो गया है। यह लोग एक-दूसरे के विरुद्ध बड़े मोटे-मोटे शीर्षक देकर लोगों की भावनाएँ भड़काते हैं और परस्पर सिर-फुटौव्वल करवाते हैं। एक-दो जगह ही नहीं, कितनी ही जगहों पर इसलिए दंगे हुए कि स्थानीय अखबारों ने बड़े उत्तेजनापूर्ण लेख लिखे हैं। ऐसे लेखक जिनका दिल व दिमाग़ ऐसे दिनों में भी शान्त रहा हो, बहुत कम हैं।

— भगतसिंह ('साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज' लेख में)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9971196111, 9936650658
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

देश के विभिन्न राज्यों में ज़ोरों-शोरों से चलाया जा रहा है 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' अभियान

देश-भर के नौजवानों के सामने बेरोज़गारी की समस्या आज मुँहबाए खड़ी है। इसकी ज़िम्मेदारी सरकार को लेनी ही होगी। इस मक़सद से ही बसनेगा अभियान का बिगुल फूँका गया है। बसनेगा अभियान की मुख्य माँगों में संविधान में संशोधन करके रोज़गार को मूलभूत अधिकारों में शामिल करने और हर नागरिक को रोज़गार की गारण्टी देने की माँग शामिल हैं। रोज़गार की गारण्टी न दे पाने की सूरत में 10,000 रुपये प्रति माह बेरोज़गारी भत्ता, ठेका प्रथा तत्काल प्रभाव से समाप्त करने, रिक्त पदों की जल्द से जल्द भर्ती करने आदि की माँगों को लेकर बसनेगा अभियान पूरी सघनता से देश के कई शहरों में चलाया जा रहा है। महाराष्ट्र, बिहार, दिल्ली और हरियाणा में ज़ोर-शोर से जारी बसनेगा अभियान को आम जनता और युवाओं का भरपूर समर्थन मिल रहा है।

दिल्ली में व्यापक रूप से चलाया जा रहा है बसनेगा अभियान

दिल्ली के वज़ीरपुर औद्योगिक क्षेत्र, बवाना औद्योगिक क्षेत्र, शाहबाद डेरी, करावल नगर, ख़जूरी में सघन रूप से अभियान जारी है। मज़दूर बस्तियों में घर-घर जाकर बसनेगा अभियान से लोगों को जोड़ा जा रहा है। हस्ताक्षर अभियान चलाकर हस्ताक्षर इकट्ठा किये जा रहे हैं, इसी के साथ-साथ सांस्कृतिक कार्यक्रमों जैसे नुक्कड़ नाटकों और क्रन्तिकारी गीतों के ज़रिये लोगों तक रोज़गार गारण्टी के क़ानून की माँग को लेकर जाया जा रहा हैं। दिल्ली के अलग-अलग इलाक़ों में दीवार लेखनी की जा रही है। दिल्ली की बहुत बड़ी आबादी रोज़ बसों में सफ़र करती है, इसलिए सघन बस अभियान चलाकर व्यापक रूप से परचा वितरण किया जा रहा है और आम नागरिकों-युवाओं-छात्रों से बसनेगा अभियान से जुड़ने का आह्वान किया जा रहा है। बेरोज़गारी की मार वैसे तो देश की समूची आम जनता पर पड़ती है परन्तु बेरोज़गारी से सबसे ज़्यादा प्रभावित मज़दूर आबादी होती है। नोटेबन्दी और जीएसटी में सबसे ज़्यादा दिल्ली में छोटे उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों पर असर पड़ा है। धीरे-धीरे अब काम पर मज़दूर वापस आ रहे हैं परन्तु ठेका प्रथा, श्रम क़ानूनों का नंगा उल्लंघन जारी है। इस बेहिसाब शोषण, अधिकारों के नंगे हनन, महँगाई और बेरोज़गारी से आम जनता के बीच बेहद आक्रोश है। बसनेगा अभियान के ज़रिये इस असन्तोष और आक्रोश को सकारात्मक शक्ति में तब्दील कर सरकार की जवाबदेही तय करने की मुहीम पूरे जोशो-ख़रोश से जारी है।

दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाओं के बीच बसनेगा अभियान

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के बैनर तले दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मी भी 25 मार्च को रामलीला मैदान से संसद तक निकाली जाने वाली रोज़गार अधिकार रैली का हिस्सा होंगी। मोदी सरकार ने 2014 के चुनाव के दौरान आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों को कर्मचारी का दर्ज़ा देने का वायदा किया था। 25 मार्च की रोज़गार अधिकार रैली में दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मी सरकार से कर्मचारी के दर्ज़े, आँगनवाड़ी के निजीकरण के ख़िलाफ़, पक्के रोज़गार की गारण्टी और न्यूनतम वेतन की माँग को लेकर आवाज़ उठायेंगी। 25 मार्च की रैली की तैयारी सम्बन्धी बैठकें दिल्ली भर के आँगनवाड़ी प्रोजेक्टों में की जा रही हैं। हमदर्द नगर, कंझावला, निहाल विहार, मोलडबन्द, मोती नगर, नबी करीम, सीलमपुर, गीता कॉलोनी, सावदा, करावल नगर, वज़ीरपुर, महरौली, बाघ कारे खान, नज़फ़गढ़, कापसहेड़ा, मंगोलपुरी, मंगोलपुर खुर्द प्रोजेक्टों में हुई बैठकों के अलावा अन्य कई प्रोजेक्टों में पर्चे व पोस्टर के ज़रिये प्रचार-प्रसार का सिलसिला जारी है। इस मुद्दे को लेकर यूनियन की तरफ़ से 25 मार्च की महारैली को सफल बनाने के लिए और दिल्ली की हज़ारों आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों को इस अभियान से जोड़ने के लिए दो आम सभाओं का भी आयोजन किया गया है। 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' की माँग सिर्फ़ नौजवानों-बेरोज़गारों की माँग नहीं है, बल्कि आँगनवाड़ी में काम करने वाली उन महिलाकर्मियों की भी माँग है जिनके रोज़गार की कोई गारण्टी नहीं, जो सरकार के 'रहमो-करम' पर जीने को मजबूर हैं, जिनके मानदेय हमेशा महीनों लटकाये जाते हैं। पिछली बार दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली की केजरीवाल सरकार को घेरकर आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों ने मानदेय दुगुना करने के लिए केजरीवाल सरकार को मजबूर कर दिया था। अब मोदी सरकार से पक्के रोज़गार की गारण्टी और कर्मचारी के दर्ज़े की माँग को लेकर दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मी बड़ी संख्या में इस रैली का हिस्सा बनने की तैयारी में हैं।

महाराष्ट्र में बसनेगा अभियान

महाराष्ट्र में भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून पारित कराने के लिए मुम्बई, पुणे और अहमदनगर में मुख्य तौर पर अभियान चलाया गया। बसनेगा के तहत मुम्बई में मानखुर्द इलाक़े के लल्लूभाई कम्पाउण्ड, ज़ाक़िर हुसैन नगर, साठे नगर मण्डला, टाटानगर, शिवाजी नगर, बैगन वारी पीएमजीपी कॉलोनी, महाराष्ट्र नगर इलाक़ों में सघन अभियान चलाया गया इसके अलावा मुम्बई विश्वविद्यालय, कोचिंग इंस्टिट्यूट और स्कूल छात्रों की बीच भी यह अभियान चलाया जा रहा है। मानखुर्द के मज़दूर चौक पर बात रखते हुए पर्चे बाँटे गये और हस्ताक्षर जुटाये गये।

पुणे में शैक्षणिक संस्थानों और वारजा मज़दूर नाके पर अभियान चलाया गया। अहमद नगर के सिद्धार्थ नगर न्यू आर्ट्स कॉलेज में कक्षावार अभियान चलाया गया। इसके अलावा दीवार लेखन और दीवारों पर इस अभियान को लेकर पोस्टरिंग की गयी।

हरियाणा से बसनेगा अभियान की रिपोर्ट

'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' अभियान के तहत हरियाणा के अलग-अलग इलाक़ों में अभियान चलाया गया। नरवाना और आस-पास के गाँवों - कर्मगढ़, धमतान, डवाना खेड़ा, बडनपर, आदि मे डोर-टू-डोर पर्चा वितरण करने से लेकर, नुक्कड़ सभा और गाँव की चौपाल में लोगों को इकट्ठा करके सभाएँ की गयीं। अभियान में लगभग सभी लोगों के हस्ताक्षर करवाये गये। कैथल ज़िले में और आस-पास के गाँव - बालू, जूलानी खेड़ा, वज़ीर खेड़ा, चौशाला, रामगढ़, मटौर, बढ़सीखरी, खरक, खेड़ी लाम्बा, कोलेखाँ, शिमला और कलायत शहर में भी डोर-टू-डोर पर्चा वितरण से लेकर नुक्कड़ सभा और गाँव की चौपाल में सभाएँ की गयीं। नरवाना, कलायत और पेहवा में कोचिंग सेण्टरों में भी अपनी बात रखी गयी। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में भी बसनेगा के तहत अभियान चलाते हुए कक्षावार बात रखी गयी और विश्वविद्यालय के मैन गेट पर बड़े पैमाने पर पर्चा वितरण किया गया।

'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' पारित कराने हेतु रोहतक, हरियाणा की पहाड़ा मोहल्ला कॉलोनी में घर-घर अभियान चलाया गया। महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के 'यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंजीनियरिंग एण्ड टेक्नोलॉजी' (UIET) के सिविल और इलेक्ट्रिकल विभागों में 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' पारित कराने के लिए छात्रों के बीच कक्षावार अभियान चलाया गया। बसनेगा अभियान के बारे में बताते हुए व्यापक रूप से पर्चा वितरण किया गया, हस्ताक्षर जुटाये गये। साथ ही 25 मार्च को दिल्ली में रामलीला मैदान से संसद मार्ग तक होने वाली रोज़गार अधिकार रैली में शामिल होने के लिए छात्रों का आह्वान भी किया गया।

पटना में चलाये गये बसनेगा अभियान की रिपोर्ट

फ़रवरी माह के अन्त से बसनेगा अभियान पटना के विभिन्न इलाक़ों में चलाया जा रहा है। बसनेगा अभियान की शुरुआत पटना विश्वविद्यालय के कॉलेजों से की गयी। इस दौरान पटना साइंस कॉलेज, दरभंगा हाउस और वाणिज्य महाविद्यालय में कक्षावार अभियान चलाकर बसनेगा के बारे में छात्रों से बातचीत की गयी। इसके साथ साथ पटना विश्वविद्यालय के हॉस्टलों जैसे सर सी.वी. रमण हॉस्टल, रामानुजम हॉस्टल आदि में भी यह अभियान चलाया गया। पटना के ऐसे इलाक़ों जैसेकि भिखना पहाड़ी, चित्रगुप्त नगर, मुसल्लहपुर हाट, कुर्जी जहाँ छात्रों की बड़ी आबादी प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करती है, वहाँ भी लगातार बसनेगा अभियान कोचिंग संस्थानों में कक्षावार या नुक्कड़ सभाओं के ज़रिये चलाया गया। इन सबके अतिरिक्त शहर में कई जगहों पर इस अभियान को लेकर वॉल राइटिंग की गयी।

– बिगुल संवाददाता

एल.जी. के मज़दूरों का संघर्ष ज़िन्दाबाद!

एलजी कम्पनी के मज़दूर अपनी माँगों को लेकर पिछले 2 सालों से संघर्षरत है। "लाइफ़ गुड्स" का दावा करने वाली यह बहुराष्ट्रीय कम्पनी अपने ही मज़दूरों की ज़िन्दगी के बदतर हालातों पर ध्यान नहीं दे रही। एलजी के मज़दूरों के संघर्ष की शुरुआत हुई जनवरी 2016 में जब अपने कार्य की नारकीय स्थिति के विरुद्ध मज़दूरों का वर्षों से दबा गुस्सा फूट पड़ा। जिसके बाद उन्होंने यूनियन बनाने की माँग पर ज़ोर देते हुए अपने संघर्ष को तेज़ किया। अगर एलजी मज़दूरों के काम के हालात पर निगाह डाली जाये तो यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि मज़दूरों को चार्ली चैपलिन की 'मॉडर्न टाइम्स' सरीखी फ़िल्म की तरह मशीन के पुर्जो में तब्दील कर दिया गया था। जिनसे कम्पनी सिर्फ़ और सिर्फ़ मुनाफ़ा निचोड़ने की आशा रखती थी। मज़दूरों के काम के घण्टे तय नहीं किये गये थे, सब सुबह 9:00 बजे कारख़ानों में घुस तो जाते थे पर वापिस कब निकलना है, यह निश्चित नहीं होता था। अगर एक बार मशीन चल पड़ी तो पलक झपकने की भी देरी होने से माल ख़राब हो जाने का डर रहता है। अधिक मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए मशीन की रफ़्तार को भी लगातार तेज़ किया जाता जिसकी वजह से सभी मज़दूरों के लिए पानी, शौचालय जैसे कार्य भी दूभर हो गये थे। इन सब अत्याचारों के ख़िलाफ़ मज़दूरों ने यूनियन बनाने की माँग की। अप्रैल 2016 में मज़दूरों ने यूनियन के पंजीकरण के लिए नामांकन भरा पर बहुराष्ट्रीय कम्पनी के दबाव के कारण प्रशासन ने कई नुक्स बताकर पंजीकरण की अर्ज़ी रद्द कर दी। इसके बाद एलजी मैनेजमेण्ट ने 12 सक्रिय यूनियन सदस्यों का अलग-अलग इकाइयों में तबादला कर दिया और बाद में तीन को टर्मिनेट कर दिया गया, ताकि संघर्ष को कमजोर बना कर ख़त्म किया जा सके।

पहले पंजीकरण यूपी में करवाया जा रहा था। योगी राज में यूनियन का पंजीकरण सम्भव नहीं हुआ तो मज़दूर राष्ट्रीय स्तर पर एलजी कम्पनी की यूनियन बनाने के लिए एकजुट हुए और दिल्ली में पंजीकरण के लिए आये। यहाँ भी ढाक के तीन पात वाली हालत ही मिली। मज़दूरों के आक्रामक रुख से बौखला कर कम्पनी प्रशासन ने 6 सक्रिय सदस्यों को निलम्बित कर दिया और उनमें से तीन को बाद में बिना वजह निष्कासित कर दिया गया। 29 नवम्बर 2017 के बाद से कम्पनी ने मज़दूरों को डराना-धमकाना शुरू कर दिया।

एलजी कम्पनी फ्रिज़, टीवी आदि इलेक्ट्रॉनिक सामान बनाती है। नोएडा स्थित इकाई में प्रतिदिन 11 हज़ार फ्रिज़ बनाये जाते हैं। यहाँ क़रीब 2300 मज़दूर कार्यरत हैं जिनमें 850 परमानेण्ट और 1500 मज़दूर ठेके पर रखे गये हैं। ठेका मज़दूरों की हालत तो और भी बदतर है, जिन्हें न्यूनतम 12-12 घण्टे खटने के बाद भी 250 रुपये देहाड़ी मिलती है। ओवरटाइम का भुगतान परमानेण्ट और ठेका मज़दूरों दोनों को ही सिंगल रेट पर किया जाता है। इस संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए मज़दूर नोएडा से दिल्ली श्रम मन्त्री गोपाल राय से भी मिलने गये। लेकिन श्रम मन्त्री ने झूठे आश्वासन देकर मज़दूरों को वापिस भेज दिया। संघर्षरत मज़दूरों के समर्थन में एलजी के कार्यरत मज़दूरों ने लंच और कैण्टीन का बहिष्कार कर अपने साथियों की लड़ाई में सहयोग दिया। 15 फ़रवरी 2018 से सभी मज़दूरों ने मिलकर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की शुरुआत की।

इस पूरे संघर्ष में यह ज़ाहिर हो गया है कि सरकार और मालिक प्रशासन मज़दूरों की यूनियन बनाने की माँग से डरे हुए हैं, इसलिए हड़ताल को तोड़ने का हरसम्भव प्रयास प्रशासन की ओर से किया जा रहा है। लेकिन प्रशासन और प्रबन्धन की साँठ-गाँठ से डरे बिना मज़दूर पूरी बहादुरी से अपने संघर्ष को आगे बढ़ा रहे हैं। 25 फ़रवरी 2018 को एलजी के संघर्षरत श्रमिकों के परिवारवालों ने ज़िला मुख्यालय का घेराव कर प्रदर्शन किया और अपनी माँगों का ज्ञापन भी सौंपा। प्रशासन ने अपना अड़ियल और ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैया बनाये रखा। अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठे श्रमिकों के परिवारवालों से कोई भी ज़िम्मेदार अधिकारी बात करने या ज्ञापन लेने नहीं आया। उल्टे संघर्षरत श्रमिकों के परिवारवालों द्वारा की जा रही नारेबाज़ी से खौफ़ खाकर पुलिस बल की संख्या बढ़ा दी गयी है। प्रदर्शन कर रहे मज़दूरों के परिवारवालों ने ज़िला अधिकारी से माँग

(पेज 4 पर जारी)

हरियाणा में आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों का आन्दोलन : सीटू और अन्य संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों की इसमें भागीदारी या फिर इस आन्दोलन से गद्दारी?!

फ़रवरी माह की 12 तारीख़ से हरियाणा की लगभग 50,000 आँगनवाड़ी महिलाकर्मी अपनी कई माँगों को लेकर हड़ताल पर बैठी हुई थीं। अब 11 मार्च से इस हड़ताल को स्थगित कर दिया गया है, या यूँ कहें कि इस हड़ताल को गड्ढे में धकेला जा चुका है। हरियाणा में आँगनवाड़ी महिलाकर्मी मानदेय बढ़ोत्तरी, कर्मचारी के दर्ज़े की माँग तथा अन्य सुविधाओं की माँगों को लेकर आन्दोलनरत थी। इस आन्दोलन में सीटू के अलावा आँगनवाड़ी एम्प्लाइज फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डिया, भारतीय मज़दूर संघ समेत एसयूसीआई से सम्बन्धित यूनियन तथा अन्य कई संगठन शामिल थे। भारतीय मज़दूर संघ और एसयूसीआई ने आन्दोलन से 1 मार्च की वार्ता के बाद ही अपने हाथ वापस खींच लिये थे। मैदान में बचे हुए दो खिलाड़ी भी 10 दिनों के भीतर ही बिना किसी लिखित समझौते के वापस पवेलियन को लौट गये! हड़ताल को लेकर सभी यूनियनों के अपने-अपने संस्करण मौजूद हैं। जहाँ सीटू के अनुसार हड़ताल 19 फ़रवरी को शुरू हुई थी, आँगनवाड़ी एम्प्लाइज फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डिया के अनुसार इसकी शुरुआत 12 फ़रवरी को ही हो गयी थी।

12 फ़रवरी से हड़ताल पर बैठी हरियाणा की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों की माँग थी कि उनका मानदेय बढ़ाया जाये और उन्हें कर्मचारी का दर्ज़ा दिया जाये। समेकित बाल विकास विभाग और आँगनवाड़ी की देशभर में खस्ता हालत से शायद ही कोई अनजान होगा। हरियाणा की आँगनवाड़ी भी अव्यवस्था से अछूती नहीं है। आँगनवाड़ियों में खाने की गुणवत्ता का निम्न स्तर, राशन की आपूर्ति में देरी के साथ-साथ तमाम समस्याएँ सरकार की नीतियों पर सवाल खड़े करती हैं। आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों पर काम का दबाव निश्चय ही योजना को प्रभावित करता है। हरियाणा में आँगनवाड़ी में काम करने वाली महिलाकर्मियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है - आँगनवाड़ी कार्यकर्त्ता (जिन्हें 10 वर्षों से ज़्यादा का अनुभव है), मिनी आँगनवाड़ी कार्यकर्त्ता और आँगनवाड़ी सहायिका। आँगनवाड़ी कार्यकर्त्ता व मिनी आँगनवाड़ी कार्यकर्त्ता के काम का बोझ बराबर होने के बावजूद उनके मानदेय में 50 प्रतिशत का अन्तर है, जोकि निश्चित तौर पर अनुचित है।

हरियाणा में काम कर रहीं तक़रीबन 50,000 आँगनवाड़ी महिलाकर्मी अपनी जायज़ माँगों को लेकर 12 फ़रवरी से आन्दोलनरत थीं। लेकिन आन्दोलन पर अपना वर्चस्व जताने के लिए सभी यूनियनों में हड़ताल को शुरू करने के श्रेय को लेने की होड़ मची है। आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों की माँगों से उनका कितना सरोकार है अपने-आप में यह एक सवाल है! 1 मार्च को दो यूनियनों से हुई समझौता वार्ता के बाद सीटू और आँगनवाड़ी एम्प्लाइज फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डिया के नेतृत्व में 5 मार्च को क्रमशः करनाल और चण्डीगढ़ में बड़े रोष प्रदर्शन किये गये। हरियाणा की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों का सरकार के प्रति गुस्सा और अपनी माँगों को लेकर लड़ने की ज़िद कितनी प्रबल थी, यह उनकी संख्या बल से ही पता चल जाता है। पर किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व के अभाव में उनकी मेहनत पर पानी फेरते हुए "लाल झण्डा" यूनियनों ने अपनी 10 मार्च की 'सफल' वार्ता में हरियाणा सरकार से बिना किसी लिखित आश्वसान लिये इस पूरे आन्दोलन को गड्ढे में धकेलने का काम किया है! शायद सीटू के 'मासूम' नेताओं को भाजपा सरकार के वायदों पर भरोसा ज़्यादा है! या शायद जिस पार्टी की जुमलेबाज़ी से पूरा देश वाक़िफ़ है, सीटू के नेतागण उसकी जुमलेबाजी से अनभिज्ञ हैं! या हो सकता है कि सीटू के 'तजुर्बेकार' नेताओं ने धूप में अपने बाल सफ़ेद कर लिये हों! लुब्बेलुबाब यह है कि एक ऐसे संघर्ष को 10 अप्रैल तक 'स्थगित' कर दिया गया है जिसमें जीत की बड़ी सम्भावना मौजूद थी। एक सम्भावनासम्पन्न आन्दोलन का दलाल यूनियनों के हत्थे चढ़ जाना वाक़ई अफ़सोसजनक है।

साल 2017 में 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' के नेतृत्व में लड़ा गया दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों का संघर्ष किसी मौखिक आश्वासन पर नहीं रुका था। दिल्ली में आँगनवाड़ी की 2015 में चली हड़ताल में हुए 'लिखित' समझौते को भी केजरीवाल सरकार ने यूँ ही लागू नहीं कर दिया था। 2017 में आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों की दोबारा हुई हड़ताल के बाद ही यह सम्भव हो सका था। 58 दिनों तक चली इस ऐतिहासिक हड़ताल के बाद दिल्ली सरकार को सरकारी राजपत्र निकाल कर मानदेय बढ़ा कर दोगुना करना पड़ा था! यह साफ़ है कि किसी भी आन्दोलन को सही दिशा एक क्रान्तिकारी नेतृत्व ही दे सकता है। बग़ैर किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व के बड़े से बड़ा आन्दोलन भी आसानी से बिखर जाता है। मसलन दिल्ली में आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों ने तब तक अपना संघर्ष जारी रखा जब तक सरकारी राजपत्र जारी नहीं कर दिया गया। उप-राज्यपाल के मानदेय बढ़ोत्तरी के प्रस्ताव को पारित कर देने के बाद भी हड़ताल जारी रही थी। अगर दिल्ली में महिलाकर्मी डटी न रहतीं, अगर यूनियन ने हड़ताल जारी न रखी होती तो ज़ाहिरा तौर पर केजरीवाल सरकार ऐन मौक़े पर किसी नये बहाने के साथ मानदेय बढ़ोत्तरी की माँग को खटाई में डाल जाती!

हरियाणा की आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के संघर्ष में सीटू की दलाली का यह कोई नया उदाहरण नहीं है! सीटू के इतिहास पर नज़र दौड़ाई जाये तो इसका काम ही बन्द कमरों में मैनेजमेण्ट के साथ दलाली करने का रहा है। इनकी यूनियन में 'जनवादी' तौर-तरीक़ों की परम्परा का कोई अंश नज़र नहीं आता है। यूनियन की आम सभाओं में निर्णय पारित करवाने का शायद ही इनका कोई इतिहास रहा हो! यूनियन के सभी फ़ैसले ऊपरी तौर पर 'प्रधानों' के हिसाब से थोप दिये जाते हैं। अभी पिछले ही दिनों 17 जनवरी से हरियाणा में ही आशा वर्करों की हड़ताल चल रही थी, उसका अन्त भी एक ऐसी ही वार्ता में कर दिया गया था। अब तक भी आशा वर्करों की "जीत" का कोई नतीजा नहीं निकल पाया है! 1 फ़रवरी को सीटू के नेतृत्व में जब आशा वर्करों की वार्ता सरकारी महक़मे के साथ हुई तब भी जीत की घोषणा तो कर दी गयी पर अब तक बढ़ा हुआ मानदेय, स्मार्टफ़ोन, अलमारी व अन्य माँगों पर सरकार की तरफ़ से कोई कार्यवाही होना तो दूर इस पूरी वार्ता के सम्बन्ध में कोई अधिसूचना तक जारी नहीं की गयी है! इससे दो ही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं - पहला यह कि सीटू ने अपने पिछले आन्दोलन से कोई सबक़ नहीं लिया और दूसरा यह कि सीटू ने इस देश के मज़दूर आन्दोलनों का बेड़ा गर्क करने का ठेका अपने 'संशोधनवादी कन्धों' पर उठा रखा है!

आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों ने जब ज़मीनी स्तर पर आशा वर्करों की हड़ताल के निष्कर्ष को देखते हुए लिखित समझौते की माँग की तो मजबूरन सीटू के नेतृत्व ने 15 मार्च की तारीख़ का झुनझुना थमा दिया। 10 मार्च की वार्ता में शामिल होने वाली दोनों ही यूनियनों के वार्ता को लेकर अपने भिन्न संस्करण मौजूद हैं। जहाँ सीटू इस हड़ताल को 1 महीने के लिए स्थगित करने की बात कर रही है जबकि आँगनवाड़ी एम्प्लाइज फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डिया ने 10 मई तक इन्तज़ार करने की बात कही है। यह तो वक़्त बतायेगा कि इस वार्ता में 'सफलता' कितनी है और 'दलाली' कितनी!

– वृषाली

एल.जी. के मज़दूरों का संघर्ष ज़िन्दाबाद!

(पेज 3 से आगे)

की कि वो जल्द से जल्द त्रिपक्षीय वार्ता बैठक में बातचीत के ज़रिये उनके मसले का निपटारा करवाये। लेकिन मज़दूर-विरोधी रवैया इसके बावजूद भी बरकरार रहा। प्रशासन के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैये का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक अनशनकारी श्रमिक की सेहत बिगड़ने पर पुलिस उसे निजी अस्पताल ले जाकर छोड़ आयी जहाँ उन्हें इलाज़ का ख़र्च भी ख़ुद उठाना पड़ा। जबकि हड़ताल पर बैठे अनशनकारी की सेहत की जवाबदेही प्रशासन की बनती है। 26 फ़रवरी 2018 को एलजी के संघर्षरत मज़दूरों की अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल का 12वाँ दिन था। ज़िला न्यायाधीश (डीएम) और प्रशासन ने अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठे मज़दूरों को 25 फ़रवरी को यह आश्वासन दिया था कि वह कम्पनी प्रबन्धन के साथ डीएलसी दफ़्तर पर त्रिपक्षीय वार्ता करवाकर उनके मसले का हल करने का प्रयास करेंगे। लेकिन 26 फ़रवरी, यानी वार्ता के दिन प्रशासन अपनी बात से मुकरता हुआ नज़र आया। संघर्षरत मज़दूरों के समर्थन में एलजी कम्पनी के कार्यरत स्थायी मज़दूर मास लीव लेकर पहुँचे थे। प्रशासन के टाल-मटोल करने के रवैये का विरोध करते हुए संघर्षरत मज़दूरों के एक हिस्से ने डीएलसी दफ़्तर के आगे की रोड जाम कर दी और मज़दूरों का एक ग्रुप डीएलसी दफ़्तर के अन्दर धरने पर बैठ गया। मज़दूरों के आक्रामक रुख को देख कर एएलसी ने दबाव में आकर मज़दूरों को यह आश्वासन दिया कि 27 फ़रवरी को डीएम दफ़्तर पर ही जहाँ मज़दूर भूख हड़ताल पर बैठे हैं, डीएलसी की मौजूदगी में त्रिपक्षीय बैठक का आयोजन किया जायेगा। 27 फ़रवरी 2018 को एएलसी ने मज़दूरों को आश्वासन दिया कि 6 मार्च तक वो उनके मसले को सुलझाने का पूरा प्रयास करेंगे और इसलिए वो भूख हड़ताल पर बैठे मज़दूरों की हड़ताल तुड़वा दे। अपने साथियों की बिगड़ती तबीयत और अपने संघर्ष की बेहतरी को ध्यान में रखते हुए भूख हड़ताल पर बैठे मज़दूरों का अनशन तुड़वाया गया और आगे की रणनीति पर विचार किया गया । लेकिन इसके बाद फिर एक बार प्रशासन ने अपना असली रंग दिखाते हुए मज़दूरों के आन्दोलन को कमज़ोर करने की मंशा से एलजी के 10 मज़दूरों को नामजद करते हुए और 150 अज्ञात मज़दूरों के ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज करवायी। ज्ञात हो कि 27 फ़रवरी 2018 को मज़दूर डीएलसी के वादा करने पर ही डीएम ऑफ़िस के बाहर इन्तज़ार कर रहे थे। डीएलसी ने ख़ुद 26 फ़रवरी 2018 को संघर्षरत मज़दूरों से वादा किया था कि वो 27 तारिख़ को डीएम दफ़्तर में कम्पनी प्रबन्धन के साथ उनकी वार्ता करवा कर उनके मसले का निपटारा करने का प्रयास करेंगे। लेकिन अपने वादे से मुकरकर जब डीएलसी साहब मुँह छिपाकर डीएम दफ़्तर से भागने की फ़िराक में थे। तब वहाँ मौजूद मज़दूरों ने शान्तिपूर्ण तरीक़े से उन्हें उनके वादे की याददिहानी कराते हुए बैठक करवाने को कहा। इस पूरे घटनाक्रम को उल्टा कर पुलिस का कहना है कि मज़दूरों ने डीएलसी को जबरन रोका। और इसी की बिनाह पर मज़दूरों पर केस दर्ज कर उन पर अपना संघर्ष वापिस लेने का दबाव बनाया जा रहा है। मज़दूरों को लगातार धमकाया जा रहा है कि या तो अपनी हड़ताल वापिस ले लो वरना इसी तरह फ़र्ज़ी केस लगाकर जेल में डाल दिये जाओगे। जिस क़ानून और पुलिस को मज़दूरों को उनका हक़ दिलाने के लिए काम करना चाहिए, वही पुलिस उनके हक़-अधिकारों का दमन कर रहे पूँजीपतियों की सेवा में लगी है। मज़दूर आन्दोलनों का लम्बा इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी मज़दूरों ने अपने हक़ के लिए आवाज़ उठायी है तब-तब पुलिस की बर्बरता का इस्तेमाल कर पूँजी की ताक़त ने उनके संघर्ष को कुचलने का प्रयास किया है। लेकिन वही इतिहास हमें यह भी बताता है कि मज़दूरों की एकजुटता के आगे बड़ी-बड़ी ताक़तों को भी झुकना पड़ा है। और इसीलिए मज़दूरों ने भी प्रशासन की इस चाल से बिना घबराये हुए अपने संघर्ष को जारी रखने का फ़ैसला लिया है।

एलजी के मज़दूर लम्बे समय से अपनी माँगों को लेकर संघर्षरत हैं और उनकी प्रमुख माँगें हैं- 1) यूनियन के पंजीकरण की प्रक्रिया जल्द से जल्द पूरी की जाये; 2) काम के घण्टे निश्चित किये जाये; 3) निष्कासित किये गये मज़दूरों को काम पर वापिस बहाल किया जाये। इस पूरे संघर्ष को हमारे देश की मुख्यधारा का मीडिया न तो कवर कर रहा है और न ही इस मसले के बारे में किसी भी मुख्यधारा के चैनल पर कोई बहस की जा रही है। मज़दूर भी मुख्यधारा के पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली बनी मीडिया से किसी भी तरह की उम्मीद छोड़ चुके हैं और स्वतन्त्र रूप से फ़ेसबुक व ट्विटर आदि के माध्यम से अपनी आवाज़ जनता के बीच पहुँचाने का भरसक प्रयास कर रहे हैं। एक सवाल उन "बड़ी-बड़ी" ट्रेड यूनियनों के ऊपर भी उठता है, जिन्होंने इस संघर्ष में कोई भागीदारी नहीं की। कम्पनी प्रशासन का मानना था कि मज़दूर स्वतन्त्र यूनियन न बनाकर ऐसे ही बीएमएस, इण्टेक, एचएमएस जैसी यूनियनों से मान्यता हासिल कर ले। इसमें प्रशासन को कोई आपत्ति नही थी। इससे ऐसी दलाल यूनियनों का चरित्र भी नंगा हो जाता है जो मज़दूरों की आवाज़ होने का दम्भ भरती है, पर खेलती मालिकों के गोद में है। मज़दूरों ने ऐसी यूनियनों से मान्यता लेने से साफ़ इंकार कर दिया और अपनी स्वतन्त्र यूनियन बनाने की माँग को लेकर आज भी वह डटे है। बिगुल मज़दूर दस्ता एलजी के मज़दूरों के जुझारू संघर्ष का समर्थन करता है और इनकी लड़ाई में उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा है।

लगातार बढ़ती मज़दूरों की असुरक्षा

आनन्द सिंह

भारत जैसे देश में जहाँ 90 प्रतिशत से ज़्यादा मज़दूर अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने को मजबूर हैं, मज़दूरों का जीवन तमाम क़िस्मे की असुरक्षाओं से घिरा रहता है। वैकल्पिक रोज़गार की अनुपलब्धता, वेतन की कमी व अनियमितता, छँटनी का ख़तरा, कार्यस्थल पर सुरक्षा उपकरणों की कमी, अपर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाएँ, आवास की तंगी और सामाजिक असुरक्षा उनके जीवन के जोखिम को लगातार बढ़ाती रहती हैं। कार्यस्थल पर बदसलूकी, भेदभाव और महिलाओं के साथ छेड़छाड़ की घटनाएँ लगातार बढ़ती रही हैं। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश में मज़दूरों की मुश्किल ज़िन्दगी से वाकिफ़ कोई भी व्यक्ति जानता है कि मज़दूरों की बहुतायत निहायत ही असुरक्षित और यन्त्रणादायी परिस्थितियों में काम करने और रहने को मजबूर है। आये दिन मज़दूरों की सुरक्षा सम्बन्धी इन्तज़ाम न होने की वजह से देश के विभिन्न क्षेत्रों में कारख़ानों में भीषण दुर्घटनाएँ घटती रहती हैं। **हाल ही में दो संस्थाओं की रिपोर्टें आयी हैं जो मज़दूरों की असुरक्षा और कार्यस्थल पर उनके साथ होने वाले अमानवीय बर्ताव की सच्चाई को आँकड़ों सहित पुष्ट करती हैं।**

पहली रिपोर्ट **अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ)** द्वारा निकाली गयी है। **'वर्ल्ड इम्प्लॉयमेण्ट एण्ड सोशल आउटलुक'** नामक इस रिपोर्ट में बताया गया है कि 2019 तक भारत में कुल कार्यबल के 77 प्रतिशत के रोज़गार की स्थिति असुरक्षित रहेगी। रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत के कुल 53.5 करोड़ श्रमिक कार्यबल में से 39.8 करोड़ लोगों के पास घटिया गुणवत्ता वाले काम रहेंगे। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि **भारत में बेरोज़गारी की हालत बद से बदतर होने वाली है। ख़ासकर 15-24 वर्ष की आयु में बेरोज़गारी की दर में ज़्यादा वृद्धि की सम्भावना है।** समूचे एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में पैदा होने वाली नौकरियों की गुणवत्ता का ज़िक्र करते हुए रिपोर्ट बताती है कि "क्षेत्र में पैदा होने वाली नौकरियों का बड़ा हिस्सा ख़राब गुणवत्ता वाला है। एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में कुल मज़दूरों के लगभग आधे असुरिक्षत रोज़गार में लगे हैं, ऐसे पुरुष और स्त्री मज़दूरों की कुल संख्या 90 करोड़ पार कर गयी है। 2019 तक के प्रक्षेपण इंगित करते हैं कि दक्षिण एशिया में 72 फ़ीसदी, दक्षिण-पूर्व एशिया और प्रशान्त में 46 फ़ीसदी, पूर्वी एशिया में 31 फ़ीसदी लोगों के पास असुरक्षित रोज़गार रहेगा।" भारत में असुरक्षित रोज़गार का स्तर पूरी दुनिया के स्तर और दक्षिण एशिया के स्तर से भी कहीं ज़्यादा है। ये है उभरते हुए भारत की कड़वी सच्चाई!

आईएलओ की रिपोर्ट में भारत सहित एशिया के समूचे क्षेत्र में (पूर्वी एशिया को छोड़कर) रोज़गार की बढ़ती असुरक्षा के कारणों का ज़िक्र करते हुए बताया गया है कि इस क्षेत्र में पूँजी और श्रमिकों का निम्न मूल्य संवर्धन वाले सेक्टरों से अधिक मूल्य संवर्धन वाले सेक्टरों की ओर गमन बहुत धीमी गति से हो रहा है। भारत की बात करें तो ये इस देश के विकृत क़िस्म के पूँजीवादी विकास की ही तार्किक परिणति है। इस विकास का नतीजा यह हो रहा है कि मुट्ठी भर धनपशुओं के पास अकूत सम्पत्ति का अम्बार खड़ा होता जा रहा है जबकि देश की अधिकांश आबादी नरक जैसे हालात में जीने को मजबूर है। इस गम्भीर परिस्थिति के बावजूद इस देश के हुक्मरान 'मेक इन इण्डिया', 'स्किल इण्डिया' आदि जुमले उछालते रहते हैं जिनको सुनकर अब उबकाई आने लगी है।

दूसरी रिपोर्ट 'इण्डिया रिस्पांसबल बिज़नेस इण्डेक्स' (आईआरबीआई) की है जो यह दर्शाती है कि कर्मचारियों के कल्याण, सुरक्षा और अधिकारों को सुनिश्चित करने के तमाम दावों के बावजूद वास्तव में अधिकांश कम्पनियों द्वारा मज़दूरों के साथ बर्ताव में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया है। आईआरबीआई बीएसई में सूचीबद्ध शीर्ष 100 कम्पनियों को सबको साथ में लेकर चलने वाले सप्लाई चेन, समुदाय की साझेदारी, सामुदायिक विकास, कर्मचारियों की गरिमा और मानवाधिकार एवं कार्यस्थल पर भेदभाव न करने के आधार पर रैंकिंग देता है। **रिपोर्ट के अनुसार शीर्ष की 100 में से केवल 14 कम्पनियों ने न्यूनतम मज़दूरी देने की अपनी प्रतिबद्धता को पूरा किया है जबकि ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों को पीएफ़ और मेडिकल बीमा जैसी सुविधाएँ प्रदान करने के वायदे को सिर्फ़ 6 कम्पनियाँ पूरा कर रही हैं।** अधिकांश कम्पनियों ने तो मज़दूर अधिकारों और श्रम सम्बन्धी मामलों की स्थिति से सम्बन्धित तथ्य सार्वजनिक करने से इन्कार कर दिया। इसी तरह रिपोर्ट में यह इंगित किया गया है कि अधिकांश कम्पनियों में महिलाओं की सुरक्षा और उनके साथ होने वाले भेदभाव को रोकने के पुख्ता इन्तज़ाम ही नहीं है। विकलांग लोगों की ज़िन्दगी आसान करने लिए भी अधिकांश कम्पनियों ने कोई ठोस क़दम नहीं उठाये हैं। इसी तरह अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों के साथ होने वाले भेदभाव को रोकने के लिए भी अधिकांश कम्पनियों ने ठोस क़दम नहीं उठाये हैं।

जैसाकि उपरोक्त दो रिपोर्टों से स्पष्ट है, भारत के मज़दूर वर्ग के जीवन व कार्य की परिस्थितियाँ इतनी सड़ान्ध भरी हो चुकी हैं कि उनकी बदबू को तमाम बुर्जुआ थिंकटैंक भी अपनी लेखनी के इत्र से दूर नहीं कर पा रहे हैं। ये बात दीगर है कि ये थिंकटैंक इन परिस्थितियों के लिए मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था को ज़िम्मेदार ठहराने की बजाय महज़ कुछ कम्पनियों को ज़िम्मेदार ठहराते हैं और व्यवस्था की आयु लम्बी करने के लिए कम्पनियों से गुहार लगाते हैं कि अपने लूटतन्त्र में थोड़ी मानवीयता दिखाओ अन्यथा मज़दूर इन अमानवीय हालात के ख़िलाफ़ बग़ावत का बिगुल फूँक देंगे। लेकिन भीषण संकट से गुज़र रही पूँजीवादी व्यवस्था में कम्पनियाँ अपने मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए मज़दूरों पर होने वाले ख़र्च में लगातार कटौती किये जा रही हैं। मज़दूरों की हालत पर घड़ियाली आँसू बहाने वाले बुर्जुआ थिंकटैंक हमें यह नहीं बताते कि इस अँधेरगर्दी भरी व्यवस्था में मुनाफ़े ही हवस मज़दूरों का ख़ून पीकर ही शान्त होती है। इस नंगी सच्चाई से मज़दूर वर्ग जितनी जल्दी अवगत हो जाये, उसके भविष्य के लिए उतना ही अच्छा है। मज़दूरों के कार्यस्थल और जीवन के हालात तो पूँजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करके एक समाजवादी व्यवस्था में ही मानवीय हो सकते हैं, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर भी मज़दूरों को अपने काम की परिस्थितियों और जीवन के हालात में सुधार से जुड़ी ठोस माँगों के लिए तत्कालिक संघर्ष भी समय की माँग है।

दिल्ली में बेरोज़गारी के गम्भीर हालात बयान करते आँकड़े

सिमरन

दिल्ली भारत की राजधानी है और देश में बेरोज़गारी की भीषणता का अन्दाज़ा दिल्ली जैसे महानगर में बेरोज़गारों की हालत को देखकर लगाया जा सकता है। दिल्ली में देश के अलग-अलग राज्यों से नौजवान-मज़दूर एक बेहतर ज़िन्दगी और रोज़गार की तलाश में आते हैं। लेकिन न तो उनका बेहतर ज़िन्दगी का ख़्वाब पूरा होता है और न ही उन्हें रोज़गार मिलता है। छोटा-मोटा काम करके या 14-14 घण्टे की शिफ़्ट में फ़ैक्टरियों में काम कर, रेड़ी-खोमचा लगा किसी तरह वो अपना जीवनयापन करते हैं। बेरोज़गारी कितनी बड़ी समस्या है, इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए वैसे तो किसी आँकड़ें की ज़रूरत नहीं है, एक बार अपने आस-पास नज़र दौड़ाने से ही पता चल जाता है कि छोटे से छोटे काम या नौकरी के लिए लाखों लोग लाइनों में लगे हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय (एनएसएसओ) 1972-73 से अखिल भारतीय आधार पर विभिन्न क्षेत्रों से रोज़गार और बेरोज़गारी के आँकड़े जमा कर रहा है। एनएसएसओ के ताज़ा सर्वेक्षण के मुताबिक़ जून 2012 में दिल्ली में बेरोज़गारों की संख्या क़रीब 2.66 लाख थी, जो बढ़कर 2013 में 9.13 लाख तक पहुँची। 2014 में दिल्ली में 10.47 लाख व्यक्ति बेरोज़गार थे जो संख्या 2015 आते-आते 12.21 लाख का आँकड़ा पार कर गयी। और नये आँकड़ों का इन्तज़ार करने का भी कोई फ़ायदा नहीं है, क्योंकि मोदी सरकार बेरोज़गारी तो दूर नहीं कर सकती इसीलिए इस साल से सरकार बेरोज़गारी के आँकड़ों को सार्वजानिक करने से इंकार कर रही है। संघ द्वारा चलयी जा रही इस सरकार को लगता है कि यदि जनता को बेरोज़गारी के आँकड़े न बताये जाये तो उन्हें लगेगा कि बेरोज़गारी है ही नहीं!

दिल्ली सांख्यिकीय हैण्डबुक 2016 में छपे आँकड़ों के मुताबिक़ 2015 में दिल्ली में रोज़गार कार्यालयों में 10.83 लाख से ज़्यादा बेरोज़गारों ने पंजीकरण करवाया। पंजीकृत बेरोज़गारों में से 26% से ज़्यादा स्नातक अथवा इससे भी ज़्यादा उच्च शिक्षा प्राप्त थे और क़रीब 74% मेट्रिक या हायर सेकण्डरी तक शिक्षित थे। 2005 में पंजीकृत बेरोज़गारों की संख्या 5.56 लाख थी यानी कि 10 सालों के भीतर बेरोज़गारों की संख्या क़रीब-क़रीब दुगनी हो गयी है। 2015 में जहाँ 56,576 बेरोज़गार ऐसे थे जिनके पास डिप्लोमा थे जबकि 2013 में यह आँकड़ा 44,934 था। **2011 की जनगणना के हिसाब से 2011 की कुल आबादी के केवल 31.61% के पास 183 दिन या उससे ज़्यादा का काम था।** इस आँकड़े से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आरज़ी तौर पर अनियमित रूप से काम करने वाले लोगों की संख्या कितनी बड़ी है। जिनके पास पक्के रोज़गार का कोई ज़रिया नहीं है। और जो जैसे-तैसे कर अपना गुज़ारा चला रहे हैं। दिल्ली सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण 2016-17 की रिपोर्ट के मुताबिक़ 2011 में कामकाजी आबादी का 3.25% हिस्सा घरेलू औद्योगिक श्रमिक थे। यानी कि ऐसे लोग जो स्वरोज़गार के ज़रिये या पीस रेट पर अपने ही घर में कुछ न कुछ काम कर अपना गुज़ारा चलाते हैं। लेकिन सबसे बड़ा हिस्सा मज़दूरों का था जो कि औद्योगिक और तृतीय क्षेत्र की गतिविधियों में संलग्न थे।

एक तथ्य जो इन सब आँकड़ों की पहुँच से बाहर है और जिसको जोड़ते ही ये आँकड़े और भी गम्भीर हो जाते हैं, वो है इन सरकारी सर्वेक्षणों की सीमा। इन सर्वेक्षणों में दिल्ली के 29 औद्योगिक क्षेत्रों की फ़ैक्टरियों, ग़रीब बस्तियों और सड़क पर अपनी ज़िन्दगी बिता रहे बेरोज़गारों और बेघरों को नहीं गिना जाता। वज़ीरपुर, बवाना, बादली, नरेला, ओखला, पटपड़गंज, गाँधी विहार आदि जैसे औद्योगिक क्षेत्रों में बहुतेरी फ़ैक्टरियाँ ऐसी हैं जो फ़ैक्टरीज़ एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत भी नहीं हैं। और पंजीकरण न होने के कारण ऐसे सरकारी सर्वेक्षण वहाँ के मज़दूरों और बेरोज़गारों तक पहुँच भी नहीं पाते। ठेके पर काम करने वाली बड़ी आबादी अर्ध-बेरोज़गारों की भी होती है, जिनके पास कुछ महीने काम होता है और कुछ महीने वो एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी तक चप्पल फटकारते हुए घूमते हैं, कभी-कभार मिलने वाला कोई छोटा-मोटा काम करके गुज़ारा करते हैं, और बहुतेरे तो भीख या दूसरों की दया पर जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। अर्ध-बेरोज़गारों के अलावा ठेका प्रथा की मार झेल रहे ऐसे भी श्रमिक हैं जो सालों से एक ही फ़ैक्टरी में काम कर रहे हैं, लेकिन उसके बावजूद उन्हें नियमित नहीं किया गया है। ऐसे में छँटनी की तलवार हमेशा उनके सिर पर लटकती रहती है। और बेरोज़गारों की सड़कों पर घूमती फ़ौज को मद्देनज़र रखते हुए फ़ैक्टरी मालिकों के लिए बेरोज़गारों का शोषण करना और भी आसान हो जाता है। ऐसे में इन आँकड़ों से उभरी बेरोज़गारी की तस्वीर बहुत हद तक अधूरी ही रहती है। मोदी सरकार ने 2014 के चुनाव से पहले यह वादा किया था कि वो हर साल 2 करोड़ रोज़गार पैदा करेगी। लेकिन सत्ता में आने के बाद वही मोदी आज देश की ग़रीब और बेरोज़गार आबादी से पकौड़े तलने को कह रहे हैं। दिल्ली के मुख्यमन्त्री अरविन्द केजरीवाल ने भी चुनाव से पहले दिल्ली की जनता से 5 साल में 8 लाख नौकरियाँ पैदा करने और 55,000 रिक्त सरकारी पदों को भरने का चुनावी वादा किया था। लेकिन हक़ीक़त यह है कि 15-16 फ़रवरी 2018 को दिल्ली सरकार द्वारा आयोजित रोज़गार मेले में बेरोज़गारों के अनुपात में न के बराबर नौकरियों के अवसर पेश किये गये। प्राइवेट कम्पनियों को बुलाकर बस अपनी छवि जनता के सामने चमकाने के लिए यह तमाशा किया गया था। वैसे इस तमाशे के बादशाह तो भाजपा सरकार के मुखिया है, जिन्होंने 'मेक इन इण्डिया', 'स्किल इण्डिया', 'स्टार्टअप इण्डिया' जैसे जुमलों का ख़ूब बड़ा गुब्बारा फुलाया और उसकी हवा निकल जाने पर मेहनतकश अवाम को पकौड़े तलने की हिदायत दी। इस लेख में प्रस्तुत किये गये आँकड़े बेरोज़गार मज़दूरों और नौकरी की तलाश में भटकते पढ़े-लिखे नौजवानों की ज़िन्दगी की तकलीफ़ों, उन्हें क़दम-क़दम पर मिलने वाले अपमान और दर्द को नहीं बयान कर सकते। लेकिन अगर कोई दिल्ली के मज़दूर इलाक़ों में और नौजवानों की रिहाइश के इलाक़ों में जाये तो सूनी आँखों और टूटे मन व शरीर वाले लाखों नौजवान उसे दिखायी दे जायेंगे।

मारुति मानेसर प्लाण्ट के मज़दूरों की सज़ा के एक वर्ष पूरा होने पर
पूँजीवादी न्याय-व्यवस्था द्वारा पूँजी की चाकरी की पुरज़ोर नुमाइश

पिछले साल 18 मार्च को गुड़गाँव के ट्रायल कोर्ट ने मारुति मानेसर प्लाण्ट के 148 गिरफ़्तार मज़दूरों में से 31 को दोषी क़रार दिया था जिसमें 13 मज़दूरों को हत्या के जुर्म का ज़िम्मेदार ठहराते हुए आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई गयी। इसमें ग़ौर करने वाली बात यह है कि ये 13 मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में थे। बाक़ी 117 लोग जो जेल में चार साल की सज़ा भुगत चुके थे, को आरोपमुक्त कर दिया गया। मारुति सुज़ुकी के मानेसर प्लाण्ट में 2011 से ही प्रबन्धन और मज़दूरों के बीच लगातार तनाव और टकराव की स्थिति मौजूद रही थी। मज़दूर अपनी यूनियन पंजीकृत कराने और काम की अमानवीय स्थितियों पर ध्यान दिलाने की ओर भी लगातार संघर्षरत थे। इन्हीं टकराव की स्थितियों के बीच 18 जुलाई 2012 को यह घटना घटी जिसमें मानेसर प्लाण्ट के अन्दर ही एक एचआर मैनेजर अवनीश कुमार देव की मृत्यु हो गयी। इस आरोप में 148 मज़दूरों को हत्या व हत्या के प्रयास के जुर्म में जेल में डाल दिया गया। इन 148 के इतर 66 मज़दूरों पर अलग से मुक़दमे दायर किये गये। घटना के तुरन्त बाद 546 स्थायी व 1800 ठेका मज़दूरों को काम से निकाल बाहर किया गया। इस पूरे मामले की लम्बी सुनवाई के बाद 10 मार्च को 31 में से 13 लोगों पर हत्या, हत्या के प्रयास, आगजनी, षड्यन्त्र के आरोप तय किये गये थे। बाक़ी 18 पर मारपीट, चोट पहुँचाने और अनधिकृत प्रवेश, जमघट लगाने के आरोप तय हुए थे।

इस फ़ैसले ने पूँजीवादी न्याय-व्यवस्था के नंगे रूप को उघाड़कर रख दिया है! यह मुक़दमा बुर्जुआ राज्य के अंग के रूप में न्याय-व्यवस्था की हक़ीक़त दिखाता है। यह राज्य-व्यवस्था और इसी का एक अंग यह न्याय-व्यवस्था पूँजीपतियों और उनके मुनाफ़े की सेवा में लगी है, मज़दूरों को इस व्यवस्था में न्याय नहीं मिल सकता है। मारुति के 148 मज़दूरों पर चला मुक़दमा, उनकी गिरफ़्तारी और 4 साल से भी ज़्यादा समय के लिए जेल में बन्द रखा जाना, इस पूँजीवादी न्यायिक व्यवस्था के चेहरे पर लगा नक़ाब पूरी तरह से उतारकर रख देता है। यह साफ़ कर देता है कि मारुति के 31 मज़दूरों को कोर्ट ने इसलिए सज़ा दी है ताकि तमाम मज़दूरों के सामने यह मिसाल पेश की जा सके कि जो भी पूँजीवादी मुनाफ़े के तन्त्र को नुक़सान पहुँचाने का जुर्म करेगा पूँजीवादी न्याय की देवी उसे क़तई नहीं बख़्शेगी।

इस पूरे मामले ने राज्य-प्रशासन, पुलिस, न्यायपालिका और मारुति कम्पनी के नापाक गँठजोड़ को खुले तौर पर नंगा कर दिया है। किस तरह पूँजीपतियों की चाकरी में लगी राज्य-मशीनरी वक़्त पड़ने पर अपने आकाओं का पक्ष लेते हुए मज़दूरों के खिलाफ़ किसी भी हद तक जा सकती है, इस मामले में यह साफ़ देखा जा सकता है। मज़दूरों के खिलाफ़ कोई सबूत न होते हुए भी, पुलिस कम्पनी-मैनेजमेण्ट के द्वारा दी गयी लिस्ट के आधार पर सैकड़ों मज़दूरों को गिरफ़्तार कर लेती है, उन पर झूठे मुक़दमे दर्ज करती है, उन्हें पुलिस हिरासत में बर्बर तरीक़े से टॉर्चर करती है, झूठे तथ्य और सबूत जुटाती है तथा झूठे गवाह खड़े करती है।

इसके बाद सभी शंकाओं-सन्देहों से ऊपर कही जाने वाली न्याय-प्रणाली अपने मज़दूर-विरोधी चरित्र की नुमाईश करती है। सरकारी वकील को मज़दूरों की ज़िन्दगी से ज़्यादा चिन्ता विदेशी पूँजी-निवेश की थी। उसका कहना था कि एक तरफ़ जब मोदी जी देश में 'मेक इन इण्डिया' को बढ़ावा दे रहे हैं, ऐसे में मारुति जैसी घटनाएँ इस देश के लिए एक धब्बा हैं। सरकारी वकील साहब के लिए देश का मतलब सिर्फ़ पूँजीपति, नौकरशाह और आम जनता का ख़ून चूसने वाले लुटेरों की एक छोटी-सी जमात है, यह तो साफ़ है। मज़दूर उनके लिए किसी गुलाम से ज़्यादा नहीं जिनका काम बिना सर उठाये चुपचाप पूँजी के जुए तले पिसना है और अगर वह आवाज़ उठाता है तो उसकी जगह सिर्फ़ जेल है। कोर्ट बुर्जुआ क़ानूनों के पहले से ही ढीले-पोले मानकों को भी धता बताते हुए साफ़-साफ़ पूँजी के पक्ष में खड़ा दिखायी देता है। ग़ौरतलब है कि बुर्जुआ क़ानून भी यह कहता है कि जब तक किसी व्यक्ति का गुनाह साबित नहीं हो जाता, तब तक वह व्यक्ति बेगुनाह माना जाता है और गुनाह साबित करने की ज़िम्मेदारी अभियोजन पक्ष (सरकार) की होती है तथा गुनाह को साबित करने का आधार अकाट्य सबूत व तथ्य होते हैं। लेकिन यहाँ कोर्ट उल्टा मज़दूरों को ही अपने को बेगुनाह साबित करने के लिए कहता है, पुलिस के झूठे सबूतों को नज़रअन्दाज़ कर देता है, पुलिस के द्वारा खड़े किये गये झूठे गवाहों की गवाही को तो मान्यता देता है लेकिन मज़दूरों के सही तर्कों को एकदम खारिज़ कर देता है।

इस केस की पूरी कार्यवाही में न्यायपालिका के मज़दूर विरोधी रवैये की बानगी नीचे लिखी घटनाओं से मिलती है:

1) कोर्ट में चली कार्यवाही के दौरान हत्या व आगजनी के आरोप में गिरफ़्तार मज़दूरों के खिलाफ़ कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया गया, न ही कोई सीसीटीवी की रिकॉर्डिंग थी और न ही अभियोजन पक्ष के गवाह किसी भी मज़दूर को पहचान ही सके!

2) 18 जुलाई 2012 को मुठभेड़ की घटना क़रीब 7:20 पर शाम में हुई परन्तु प्लाण्ट के बाहर सुबह 11 बजे से ही पुलिस फ़ोर्स की तैनाती थी पर पुलिस को तब तक अन्दर नहीं घुसने दिया गया जब तक हालात नियन्त्रण से बाहर नहीं हो गये। यह बिलकुल साफ़ दिखा रहा है कि यह प्रशासन द्वारा रचा गया षड्यन्त्र था। कम्पनी के द्वारा मज़दूरों के कपड़ों में भाड़े के गुण्डे और बाउंसर भी मज़दूरों पर हमला करने के लिए सुनियोजित तरीक़े से प्लाण्ट में बुलाये गये थे।

3) एक तरफ़ एफ़आईआर में यह उल्लेख किया गया है कि क़रीब 400-500 की संख्या में मज़दूर लाठियों, डण्डों और सरियों के साथ प्लाण्ट में प्रवेश हुए थे जिनसे उन्होंने मैनेजमेण्ट के लोगों को मारा, परन्तु जब उन गवाहों से यह पूछा गया कि इतनी बड़ी संख्या में मज़दूर हथियारों के साथ फ़ैक्टरी गेट, जिस पर हमेशा सिक्योरिटी गार्ड रहते हैं, से प्रवेश कैसे कर सकते है तो ये गवाह अपने बयान से पलट गये और कहने लगे कि मज़दूरों ने फ़ैक्टरी के अन्दर से ही शॉकर और दरवाज़ों की चौखटों से हमला किया था। लेकिन कोर्ट ने गवाहों के बयानों की इन सब विसंगतियों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

4) इस पूरी कार्यवाही के दौरान एक और बात ग़ौर करने लायक थी। 147 में से 89 मज़दूरों के नाम चार ठेकेदारों द्वारा वर्णानुक्रम के अनुसार दिया गया था। कोर्ट में पेश किये गये पेपर के आधार पर यह पाया गया कि वीरेन्दर नामक एक गवाह ने उन 25 मज़दूरों के नाम दिये जिनका नाम A-G तक से शुरू होता है, इसी प्रकार एक दूसरे गवाह याद राम ने अन्य 25 मज़दूरों के नाम दिये जिनके नाम G-P तक से शुरू होते थे, अशोक राना ने 26 मज़दूरों के नाम दिये जो P-S से शुरू होते थे व अन्य एक गवाह ने बाक़ी 13 मज़दूरों के नाम दिये जो S-Y से शुरू होते थे। ऐसा भला कैसे सम्भव है? FIR में इन लिस्टों को देने का जो समय दिखाया गया है, पुलिस रिकॉर्ड के अनुसार उससे पहले ही पुलिस मज़दूरों को गिरफ़्तार कर चुकी थी। मज़दूरों की तरफ़ से इस तथ्य को कोर्ट के सामने लाना एक मुख्य कारण था कि कोर्ट को 117 मज़दूरों को बरी करना पड़ा था। लेकिन चूँकि मज़दूरों को सबक़ सिखाना भी ज़रूरी था, इसलिए यूनियन के नेतृत्व के 13 मज़दूरों समेत 31 मज़दूरों के मामले में कोर्ट द्वारा इस तथ्य की अनदेखी कर दी गयी।

5) बाक़ी जिस आगजनी की घटना का आरोप मज़दूरों पर लगाया गया है, उस घटना में कोई प्रमाण नहीं मिला है और न ही कोई गवाह ही बता पाया कि आग कैसे लगी व किसने लगायी। यहाँ पर कोर्ट द्वारा एक बहुत ही विचित्र तर्क पेश किया गया। दरअसल, सरकारी पक्ष यह साबित ही नहीं कर पाया कि आग कब लगी, कैसे लगी और किसके द्वारा लगायी गयी। जब एक मज़दूर ने कोर्ट को यह बताया कि आग कम्पनी के द्वारा बुलाये गये भाड़े के गुण्डों में से एक ने लगायी थी लेकिन वह उस गुण्डे को नहीं पहचानता है तो जज साहब का यह कहना था कि चूँकि यह मज़दूर उस गुण्डे को नहीं पहचान सकता जिसने आग लगायी थी इसलिए इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आग स्वयं मज़दूरों ने ही लगायी हो!!?? ऐसी विचित्र तर्क-प्रणाली को सुनकर तो पूँजीवादी न्याय की मज़दूरों के लिए अन्धी देवी भी अपनी आँखों से काली पट्टी उतारकर इन जज साहब को एक बार घूरकर देखने के लिए कसमसा उठी होंगी।

6) 18 जुलाई की घटना में कम्पनी के मैनेजर अवनीश देव के पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के अनुसार उसकी मौत दम घुटने से हुई थी। गवाही के दौरान डॉक्टरों ने बार-बार यह बताया कि जिन चोटों के निशान उसके शरीर पर थे, वे चोटें किसी कठोर सतह पर गिरने से भी आ सकती हैं और मृत्यु के लिए पर्याप्त नहीं हैं। डॉक्टरी रिपोर्ट से भी कहीं साबित नहीं होता कि अवनीश देव की मृत्यु कोई हत्या का मामला है। यानी 302 व 307 की जो धाराएँ लगायी गयी हैं, वे कहीं से भी जायज़ नहीं।

7) कोर्ट ने यह भी माना कि पुलिस वालों ने मज़दूरों को बेवजह फँसाने और उनके खिलाफ़ मामले को और गम्भीर बनाने के लिए बिना डॉक्टर के पास गये अपनी झूठी एमएलसी रिपोर्टें कोर्ट में दाखिल कीं। लेकिन यहाँ भी कोर्ट ने एक विचित्र तर्क पेश किया कि हालाँकि यह साफ़ है कि एमएलसी रिपोर्टें झूठी हैं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सभी चश्मदीद गवाहों की चोटें झूठी हैं। (अब तो न्याय की देवी के भी सर में दर्द होने लगा होगा और वह अपने स्थान से उतरकर कोर्ट के पीछे की कैण्टीन में चाय पीने के लिए व्याकुल हो रही होंगी।)

पीयूडीआर की एक हालिया रिपोर्ट में भी इस मुक़दमे की सुनवाई के दौरान और इसके फ़ैसले से जुड़ी ऐसे ही तमाम विसंगतियों, विचित्र तर्कों इत्यादि को दिखाया गया है।

लुब्बे-लुबाब यह कि मुनाफ़े के तराजू में मज़दूरों की ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं है। मैनेजमेण्ट के व्यक्ति की मौत को बहाना बनाकर 148 मज़दूरों को जेलों में सड़ा दिया जाता है परन्तु क्या कभी आज तक कोई पूँजीपति मज़दूरों को फ़ैक्टरियों में मौत के घाट उतारने, मज़दूरों के हक़ों को छीनने के जुर्म में गिरफ़्तार भी किया गया या एक रात भी हवालात में गुज़ार कर आया है? कल-कारख़ानों में दमन किसी अख़बार के पन्ने पर ख़बर नहीं बनती जबकि अपने ख़ून-पसीने की कमाई की माँग करने वाले मज़दूरों को सड़क पर उतरने पर मुजरिम घोषित कर दिया जाता है।

यह न्यायालय बिना ठोस सबूतों के 4 सालों तक मज़दूरों को जेल में सड़ा सकती है, लेकिन ऑटोमोबाइल सेक्टर में आये दिन मज़दूरों पर हो रहे अत्याचारों और श्रम क़ानूनों के नंगे हनन की रोकथाम के लिए उसकी यही तत्परता हवा हो जाती है। मारुति की घटना के ज़रिये पूँजीवादी राज्य-मशीनरी ने मज़दूरों को एक नज़ीर पेश की है कि जो भी संगठित होने या पूँजी के चक्र को थामने की कोशिश करेगा, उसे यह व्यवस्था कुचल देगी। ख़ुद कोर्ट ने इस दबाव की पुष्टि अपने उस फ़ैसले में की थी, जब मज़दूरों को जमानत देने से मना करने के पीछे कोर्ट ने पूँजी के निवेश को ख़तरा होने और फ़ैक्टरियों के वहाँ से हट जाने की बात करते हुए मज़दूरों को 'सबक़' सिखाने की बात की। परन्तु यह मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था मज़दूरों के प्रतिरोध करने की ज़िद को नहीं तोड़ पायी है। मारुति मज़दूरों के संघर्ष के आगाज़ के बाद से गुड़गाँव-धारूहेड़ा-बवाल-नीमराना-टप्पूकड़ा की पूरी ऑटोमोबाइल बेल्ट मज़दूरों के ऐसे ही स्फुट आन्दोलनों की साक्षी बनी जिन्हें पुलिस-प्रशासन द्वारा बर्बर तरीक़े से दबाया गया। मारुति मज़दूरों के आन्दोलन के बाद पूँजीपतियों ने किसी भी मज़दूर संघर्ष को दबाने-कुचलने में कोई कोताही नहीं बरती। परन्तु यह दमन इस संघर्ष को रोक नहीं सकता बल्कि यह दावानल भड़क उठेगा। मारुति के मज़दूरों को जेलों में रखकर यह व्यवस्था जिस चिंगारी को हवा दे रही है, वह दावानल बन पूँजी के इस जंगल को ही ख़ाक कर देगी।

क़ानून की पवित्रता तभी तक रखी जा सकती है जब तक वह जनता के दिल यानी भावनाओं को प्रकट करता है। जब यह शोषणकारी समूह के हाथों में एक पुर्ज़ा बन जाता है तब अपनी पवित्रता और महत्त्व खो बैठता है। न्याय प्रदान करने के लिए मूल बात यह है कि हर तरह के लाभ या हित का ख़ात्मा होना चाहिए। ज्यों ही क़ानून सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना बन्द कर देता है त्यों ही ज़ुल्म और अन्याय को बढ़ाने का हथियार बन जाता है। ऐसे क़ानूनों को जारी रखना सामूहिक हितों पर विशेष हितों की दम्भपूर्ण ज़बरदस्ती के सिवाय कुछ नहीं है।

— भगतसिंह

स्मृति में प्रेरणा, विचारों में दिशा

भगतसिंह और उनके साथियों के विचारों से कुछ चुने हुए अंश। इन्हें ध्यान से पढ़िये, समझिये और आज की कठिन लड़ाइयों में जूझने की प्रेरणा और दिशा हासिल कीजिये।

भगतसिंह
सुखदेव
राजगुरू

शहादत दिवस
23 मार्च
1931

इंक़लाब ज़िन्दाबाद क्या है?

'मॉडर्न रिव्यू' पत्रिका के सम्पादक के नाम पत्र

लाहौर के स्पेशल मजिस्ट्रेट की अदालत में "इंक़लाब ज़िन्दाबाद" नारा लगाने के जुर्म में छात्रों की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ गुजराँवाला में नौजवान भारत सभा ने एक प्रस्ताव पारित किया। 'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय ने इस ख़बर के आधार पर "इंक़लाब ज़िन्दाबाद" के नारे की आलोचना की। भगतसिंह और बी.के. दत्त ने जेल से 'मॉडर्न रिव्यू' के सम्पादक को उनके उस सम्पादकीय का निम्नलिखित उत्तर दिया था। – स.

सम्पादक महोदय, मॉडर्न रिव्यू।

आपने अपने सम्मानित पत्र के दिसम्बर, 1929 के अंक में एक टिप्पणी 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद' शीर्षक से लिखी है और इस नारे को निरर्थक ठहराने की चेष्टा की है। आप सरीखे परिपक्व विचारक तथा अनुभवी और यशस्वी सम्पादक की रचना में दोष निकालना तथा उसका प्रतिवाद करना, जिसे प्रत्येक भारतीय सम्मान की दृष्टि से देखता है, हमारे लिए एक बड़ी धृष्टता होगी। तो भी इस प्रश्न का उत्तर देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि इस नारे से हमारा क्या अभिप्राय है।

यह आवश्यक है, क्योंकि इस देश में इस समय इस नारे को सब लोगों तक पहुँचाने का कार्य हमारे हिस्से में आया है। इस नारे की रचना हमने नहीं की है। यही नारा रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध समाजवादी लेखक अप्टन सिक्लेयर ने अपने उपन्यासों 'बोस्टन' और 'आईल' में यही नारा कुछ अराजकतावादी क्रान्तिकारी पात्रों के मुख से प्रयोग कराया है। इसका अर्थ क्या है? इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सशस्त्र संघर्ष सदैव जारी रहे और कोई भी व्यवस्था अल्प समय के लिए भी स्थायी न रह सके, दूसरे शब्दों में – देश और समाज में अराजकता फैली रहे।

दीर्घकाल से प्रयोग में आने के कारण इस नारे को एक ऐसी विशेष भावना प्राप्त हो चुकी है, जो सम्भव है भाषा के नियमों एवं कोष के आधार पर इसके शब्दों से उचित तर्कसम्मत रूप में सिद्ध न हो पाये, परन्तु इसके साथ ही इस नारे से उन विचारों को पृथक नहीं किया जा सकता, जो इसके साथ जुड़े हुए हैं। ऐसे समस्त नारे एक ऐसे स्वीकृत अर्थ के द्योतक हैं, जो एक सीमा तक उनमें उत्पन्न हो गये हैं तथा एक सीमा तक उनमें निहित हैं।

उदाहरण के लिए हम यतीन्द्रनाथ ज़िन्दाबाद का नारा लगाते हैं। इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उनके जीवन के महान आदर्शों तथा उस अथक उत्साह को सदा-सदा के लिए बनाये रखें, जिसने इस महानतम बलिदानी को उस आदर्श के लिए अकथनीय कष्ट झेलने एवं असीम बलिदान करने की प्रेरणा दी। यह नारा लगाने से हमारी यह लालसा प्रकट होती है कि हम भी अपने आदर्शों के लिए ऐसे ही अचूक उत्साह को अपनायें। यही वह भावना है, जिसकी हम प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार हमें 'इंक़लाब' शब्द का अर्थ भी कोरे शाब्दिक रूप में नहीं लगाना चाहिए। इस शब्द का उचित एवं अनुचित प्रयोग करने वाले लोगों के हितों के आधार पर इसके साथ विभिन्न अर्थ एवं विभिन्न विशेषताएँ जोड़ी जाती हैं। क्रान्तिकारियों की दृष्टि में यह एक पवित्र वाक्य है। हमने इस बात को ट्रिब्यूनल के सम्मुख अपने वक्तव्य में स्पष्ट करने का प्रयास किया था।

इस वक्तव्य में हमने कहा था कि क्रान्ति (इंक़लाब) का अर्थ अनिवार्य रूप में सशस्त्र आन्दोलन नहीं होता। बम और पिस्तौल कभी-कभी क्रान्ति को सफल बनाने के साधन-मात्र हो सकते हैं। इसमें भी सन्देह नहीं है कि कुछ आन्दोलनों में बम एवं पिस्तौल एक महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होते हैं, परन्तु केवल इसी कारण से बम और पिस्तौल क्रान्ति के पर्यायवाची नहीं हो जाते। विद्रोह को क्रान्ति नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह हो सकता है कि विद्रोह का अन्तिम परिणाम क्रान्ति हो।

इस वाक्य में क्रान्ति शब्द का अर्थ 'प्रगति के लिए परिवर्तन की भावना एवं आकांक्षा' है। लोग साधारणतया जीवन की परम्परागत दशाओं के साथ चिपक जाते हैं और परिवर्तन के विचार-मात्र से ही काँपने लगते हैं। यही एक अकर्मण्यता की भावना है, जिसके स्थान पर क्रान्तिकारी भावना जाग्रत करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अकर्मण्यता का वातावरण निर्मित हो जाता है और रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव समाज को कुमार्ग पर ले जाती हैं। ये परिस्थितियाँ मानव समाज की उन्नति में गतिरोध का कारण बन जाती हैं।

क्रान्ति की इस भावना से मनुष्य जाति की आत्मा स्थायी तौर पर ओतप्रोत रहनी चाहिए, जिससे कि रूढ़िवादी शक्तियाँ मानव समाज की प्रगति की दौड़ में बाधा डालने के लिए संगठित न हो सकें। यह आवश्यक है कि पुरानी व्यवस्था सदैव न रहे और वह नयी व्यवस्था के लिए स्थान रिक्त करती रहे, जिससे कि एक आदर्श व्यवस्था संसार को बिगड़ने से रोक सके। यह है हमारा वह अभिप्राय जिसको दिल में रखकर हम 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा बुलन्द करते हैं।

22 दिसम्बर, 1929
भगतसिंह – बी.के. दत्त

विद्यार्थियों के नाम सन्देश

भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त की ओर से जेल से भेजा गया यह पत्र 19 अक्टूबर, 1929 को पंजाब छात्र संघ, लाहौर के दूसरे अधिवेशन में पढ़कर सुनाया गया था। अधिवेशन के सभापति थे सुभाषचन्द्र बोस। – सं.

इस समय हम नौजवानों से यह नहीं कह सकते कि वे बम और पिस्तौल उठायें। आज विद्यार्थियों के सामने इससे भी महत्त्वपूर्ण काम है। आने वाले लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस देश की आज़ादी के लिए ज़बरदस्त लड़ाई की उद्घोषणा करने वाली है। राष्ट्रीय इतिहास के इन कठिन क्षणों में नौजवानों के कन्धों पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आ पड़ेगी। यह सच है कि स्वतन्त्रता के इस युद्ध में अग्रिम मोर्चों पर विद्यार्थियों ने मौत से टक्कर ली है। क्या परीक्षा की इस घड़ी में वे उसी प्रकार की दृढ़ता और आत्मविश्वास का परिचय देने से हिचकिचायेंगे?

नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्टरी-कारख़ानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।

पंजाब वैसे ही राजनीतिक तौर पर पिछड़ा हुआ माना जाता है। इसकी भी ज़िम्मेदारी युवक वर्ग पर ही है। आज वे देश के प्रति अपनी असीम श्रद्धा और शहीद यतीन्द्रनाथ दास के महान बलिदान से प्रेरणा लेकर यह सिद्ध कर दें कि स्वतन्त्रता के इस संघर्ष में वे दृढ़ता से टक्कर ले सकते हैं।

22 अक्टूबर, 1929 के ट्रिब्यून (लाहौर) में प्रकाशित

तीसरे इण्टरनेशनल, मास्को के अध्यक्ष को तार

24 जनवरी, 1930 को मुक़दमे की पेशी पर लाहौर षड्यन्त्र केस के विचाराधीन क़ैदी लेनिन की स्मृति में (21 जनवरी, 1924 को लेनिन की मृत्यु हुई थी) अपने गले में लाल रूमाल बाँधकर अदालत में आये। वे काकोरी-गीत गा रहे थे। मजिस्ट्रेट के आने पर उन्होंने 'समाजवादी क्रान्ति – ज़िन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद – मुर्दाबाद' के नारे लगाये। फिर भगतसिंह ने निम्नलिखित तार तीसरी इण्टरनेशनल, मास्को के अध्यक्ष के नाम प्रेषित करने के लिए मजिस्ट्रेट को दिया –

"लेनिन-दिवस के अवसर पर हम सोवियत रूस में हो रहे महान अनुभव और साथी लेनिन की सफलता को आगे बढ़ाने के लिए अपनी दिली मुबारक़बाद भेजते हैं। हम अपने को विश्व-क्रान्तिकारी आन्दोलन से जोड़ना चाहते हैं। मज़दूर-राज की जीत हो। सरमायादारी का नाश हो।

साम्राज्यवाद – मुर्दाबाद!!"

विचाराधीन क़ैदी,
24 जनवरी, 1930 लाहौर षड्यन्त्र केस

(ट्रिब्यून, लाहौर 26 जनवरी, 1930 में प्रकाशित)

स्मृति में प्रेरणा, विचारों में दिशा

आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है!

असेम्बली बम काण्ड पर सेशन कोर्ट में भगतसिंह के बयान का अंश

...यह काम हमने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा विद्वेष की भावना से नहीं किया है। हमारा उद्देश्य केवल उस शासन-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिवाद करना था जिसके हर एक काम से उसकी अयोग्यता ही नहीं वरन अपकार करने की उसकी असीम क्षमता भी प्रकट होती है। इस विषय पर हमने जितना विचार किया उतना ही हमें इस बात का दृढ़ विश्वास होता गया कि वह केवल संसार के सामने भारत की लज्जाजनक तथा असहाय अवस्था का ढिंढोरा पीटने के लिए ही क़ायम है और वह एक ग़ैर-ज़िम्मेदार तथा निरंकुश शासन का प्रतीक है।

जनता के प्रतिनिधियों ने कितनी ही बार राष्ट्रीय माँगों को सरकार के सामने रखा, परन्तु उसने उन माँगों की सर्वथा अवहेलना करके हर बार उन्हें रद्दी की टोकरी में डाल दिया। सदन द्वारा पास किये गये गम्भीर प्रस्तावों को भारत की तथाकथित पार्लियामेण्ट के सामने ही तिरस्कारपूर्वक पैरों तले रौंदा गया है, दमनकारी तथा निरंकुश क़ानूनों को समाप्त करने की माँग करने वाले प्रस्तावों को हमेशा अवज्ञा की दृष्टि से ही देखा गया है और जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों ने सरकार के जिन क़ानूनों तथा प्रस्तावों को अवांछित एवं अवैधानिक बताकर रद्द कर दिया था, उन्हें केवल क़लम हिलाकर ही सरकार ने लागू कर लिया है।

संक्षेप में, बहुत कुछ सोचने के बाद भी एक ऐसी संस्था के अस्तित्व का औचित्य हमारी समझ में नहीं आ सका जो, बावजूद उस तमाम शानो-शौक़त के, जिसका आधार भारत के करोड़ों मेहनतकशों की गाढ़ी कमाई है, केवल मात्र दिल को बहलाने वाली, थोथी, दिखावटी और शरारतों से भरी हुई एक संस्था है। हम सार्वजनिक नेताओं की मनोवृत्ति को समझ पाने में भी असमर्थ हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि हमारे नेतागण भारत की असहाय परतन्त्रता की खिल्ली उड़ाने वाले इतने स्पष्ट एवं पूर्वनियोजित प्रदर्शनों पर सार्वजनिक सम्पत्ति एवं समय बरबाद करने में सहायक क्यों बनते हैं।

हम इन्हीं प्रश्नों तथा मज़दूर आन्दोलन के नेताओं की धरपकड़ पर विचार कर ही रहे थे कि सरकार औद्योगिक विवाद विधेयक लेकर सामने आयी। हम इसी सम्बन्ध में असेम्बली की कार्यवाही देखने गये। वहाँ हमारा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि भारत की लाखों मेहनतकश जनता एक ऐसी संस्था से किसी बात की भी आशा नहीं कर सकती जो भारत के बेबस मेहनतकशों की दासता तथा शोषकों की गलाघोंटू शक्ति की अहितकारी यादगार है।

अन्त में वह क़ानून, जिसे हम बर्बर एवं अमानवीय समझते हैं, देश के प्रतिनिधियों के सरों पर पटक दिया गया और इस प्रकार करोड़ों संघर्षरत भूखे मज़दूरों को प्राथमिक अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया और उनके हाथों से उनकी आर्थिक मुक्ति का एकमात्र हथियार भी छीन लिया गया। जिस किसी ने भी कमरतोड़ परिश्रम करने वाले मूक मेहनतकशों की हालत पर हमारी तरह सोचा है, वह शायद स्थिर मन से यह सब नहीं देख सकेगा। बलि के बकरों की भाँति शोषकों – और सबसे बड़ी शोषक स्वयं सरकार है – की बलिवेदी पर आये दिन होने वाली मज़दूरों की इन मूक क़ुर्बानियों को देखकर जिस किसी का दिल रोता है, वह अपनी आत्मा की चीत्कार की उपेक्षा नहीं कर सकता।

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति के भूतपूर्व सदस्य स्वर्गीय श्री एस.आर. दास ने अपने प्रसिद्ध पत्र में अपने पुत्र को लिखा था कि इंग्लैण्ड की स्वप्ननिद्रा भंग करने के लिए बम का उपयोग आवश्यक था। श्री दास के इन्हीं शब्दों को सामने रखकर हमने असेम्बली भवन में बम फेंके थे। हमने वह काम मज़दूरों की तरफ़ से प्रतिरोध प्रदर्शित करने के लिए किया था। उन असहाय मज़दूरों के पास अपने मर्मान्तक क्लेशों को व्यक्त करने का और कोई साधन भी तो नहीं था। हमारा एकमात्र उद्देश्य था 'बहरों को सुनाना' और उन पीड़ितों की माँगों पर ध्यान न देने वाली सरकार को समय रहते चेतावनी देना।

हमारी ही तरह दूसरों की भी परोक्ष धारणा है कि प्रशान्त सागर रूपी भारतीय मानवता की ऊपरी शान्ति किसी भी समय फूट पड़ने वाले एक भीषण तूफ़ान की द्योतक है। हमने तो उन लोगों के लिए सिर्फ़ ख़तरे की घण्टी बजायी है जो आने वाले भयानक ख़तरे की परवाह किये बग़ैर तेज़ रफ़्तार से आगे की तरफ़ भागे जा रहे हैं। हम लोगों को सिर्फ़ यह बता देना चाहते हैं कि 'काल्पनिक अहिंसा' का युग अब समाप्त हो चुका है और आज की उठती हुई नयी पीढ़ी को उसकी व्यर्थता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया है।

मानवता के प्रति हार्दिक सद्भाव तथा अमिट प्रेम रखने के कारण उसे व्यर्थ के रक्तपात से बचाने के लिए हमने चेतावनी देने के इस उपाय का सहारा लिया है। और उस आने वाले रक्तपात को हम ही नहीं, लाखों आदमी पहले से ही देख रहे हैं।

... ...

(भगतसिंह से नीचे की अदालत में पूछा गया था कि क्रान्ति से उन लोगों का क्या मतलब है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था :)

क्रान्ति के लिए ख़ूनी लड़ाइयाँ अनिवार्य नहीं हैं और न ही उसमें व्यक्तिगत प्रतिहिंसा के लिए कोई स्थान है। वह बम और पिस्तौल का सम्प्रदाय नहीं है। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है – अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

आमूल परिवर्तन की आवश्यकता

सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते सँभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, और तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज़ ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

सामयिक चेतावनी

यह है हमारा आदर्श। और इसी आदर्श से प्रेरणा लेकर हमने एक सही तथा पुरज़ोर चेतावनी दी है। लेकिन अगर हमारी इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और वर्तमान शासन-व्यवस्था उठती हुई जनशक्ति के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज न आयी तो क्रान्ति के इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक भयंकर युद्ध का छिड़ना अनिवार्य है। सभी बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ते हुए उस युद्ध के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगी। यह अधिनायकतन्त्र क्रान्ति के आदर्शों की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रान्ति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाये हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कम है। हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इन्क़लाब ज़िन्दाबाद!

(6 जून, 1929)

क्रान्तिकारियों का विश्वास है कि देश को क्रान्ति से ही स्वतन्त्रता मिलेगी

'बम का दर्शन' लेख के अंश

(23 दिसम्बर, 1929 को क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्तम्भ वायसराय की गाड़ी को उड़ाने का प्रयास किया, जो असफल रहा। गाँधीजी ने इस घटना पर एक कटुतापूर्ण लेख 'बम की पूजा' लिखा, जिसमें उन्होंने वायसराय को देश का शुभचिन्तक और नवयुवकों को आज़ादी के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाले कहा। इसी के जवाब में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की ओर से भगवतीचरण वोहरा ने 'बम का दर्शन' लेख लिखा, जिसका शीर्षक 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन का घोषणापत्र' रखा गया। भगतसिंह ने जेल में इसे अन्तिम रूप दिया। 26 जनवरी, 1930 को इसे देशभर में बाँटा गया।)

... ...

पहले हम हिंसा और अहिंसा के प्रश्न पर ही विचार करें। हमारे विचार से इन शब्दों का प्रयोग ही ग़लत किया गया है, और ऐसा करना ही दोनों दलों के साथ अन्याय करना है, क्योंकि इन शब्दों से दोनों ही दलों के सिद्धान्तों का स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। हिंसा का अर्थ है अन्याय के लिए किया गया बल-प्रयोग, परन्तु क्रान्तिकारियों का तो यह उद्देश्य नहीं है; दूसरी ओर अहिंसा का जो आम अर्थ समझा जाता है, वह है आत्मिक शक्ति का सिद्धान्त। उसका उपयोग व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय अधिकारों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अपनेआप को कष्ट देकर आशा की जाती है कि इस प्रकार अन्त में अपने विरोधी का हृदय-परिवर्तन सम्भव हो सकेगा।

एक क्रान्तिकारी जब कुछ बातों को अपना अधिकार मान लेता है तो वह उनकी माँग करता है, अपनी उस माँग के पक्ष में दलीलें देता है, समस्त आत्मिक शक्ति के द्वारा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक कष्ट सहन करता है, इसके लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहता है और उसके समर्थन में वह अपना समस्त शारीरिक बल-प्रयोग भी करता है। इसके इन प्रयत्नों को आप चाहे जिस नाम से पुकारें, परन्तु आप इन्हें हिंसा के नाम से सम्बोधित नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करना कोष में दिये इस शब्द के अर्थ के साथ अन्याय होगा। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह। उसकी स्वीकृति के लिए केवल आत्मिक शक्ति के प्रयोग का ही आग्रह क्यों? इसके साथ-साथ शारीरिक बल-प्रयोग भी क्यों न किया जाये? क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अपनी शारीरिक एवं नैतिक शक्ति दोनों के प्रयोग में विश्वास करता है, परन्तु नैतिक शक्ति का प्रयोग करने वाले शारीरिक बल-प्रयोग को निषिद्ध मानते हैं। इसलिए अब सवाल यह नहीं है कि आप हिंसा चाहते हैं या अहिंसा, बल्कि प्रश्न तो यह है कि आप अपनी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए शारीरिक बल सहित नैतिक बल का प्रयोग करना चाहते हैं, या केवल आत्मिक शक्ति का?

क्रान्तिकारियों का विश्वास है कि देश को क्रान्ति से ही स्वतन्त्रता मिलेगी। वे जिस क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं और जिस क्रान्ति का रूप उनके सामने स्पष्ट है उसका अर्थ केवल यह नहीं है कि विदेशी शासकों तथा उनके पिट्ठुओं से क्रान्तिकारियों का सशस्त्र संघर्ष हो, बल्कि इस सशस्त्र संघर्ष के साथ-साथ नवीन सामाजिक व्यवस्था के द्वार देश के लिए मुक्त हो जायें। क्रान्ति पूँजीवाद, वर्गवाद तथा कुछ लोगों को ही विशेषाधिकार दिलाने वाली प्रणाली का अन्त कर देगी। यह राष्ट्र को अपने पैरों पर खड़ा करेगी, उससे नवीन राष्ट्र और नये समाज का जन्म होगा। क्रान्ति से सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि वह मज़दूर तथा किसानों का राज्य क़ायम कर उन सब सामाजिक अवांछित तत्त्वों को समाप्त कर देगी जो देश की राजनीतिक शक्ति को हथियाये बैठे हैं।

स्मृति में प्रेरणा, विचारों में दिशा

क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा

भगतसिंह द्वारा तैयार किये गये क्रान्तिकारी कार्यक्रम की योजना के दो हिस्से हैं। एक, छापकर बाँटने के लिए जो एक पत्र की तरह लिखा गया है और दूसरा, एक लेख के रूप में क्रान्तिकारी साथियों में विचार, बहस व काम में दिग्दर्शन के लिए है। इसका पहला हिस्सा 'नौजवान राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम' शीर्षक से उस समय के विभिन्न समाचारपत्रों में काट-छाँटकर छपा था। भगतसिह को फाँसी के बाद लाहौर के 'द पीपुल' में 29 जुलाई, 1931 और इलाहाबाद के 'अभ्युदय' में 8 मई, 1931 के अंक में इसके कुछ अंश प्रकाशित हुए थे। यह दस्तावेज़ अपने समग्र रूप में कुछ वर्ष पहले अंग्रेज़ सरकार की एक गुप्त पुस्तक में मिला। यह पुस्तक सी.आई.डी. अधिकारी सी.ई.एस. फेयरवेदर ने 1936 में 'बंगाल में संयुक्त मोर्चा-आन्दोलन की प्रगति पर नोट' शीर्षक से लिखी थी। उसके अनुसार यह मसविदा भगतसिह ने लिखा था और 3 अक्टूबर, 1931 को श्रीमती विमला प्रभा देवी के घर से तलाशी में हासिल हुआ था। इस पुलिस अधिकारी ने यह कहा था कि अब सभी क्रान्तिकारी शक्तियाँ इस कार्यक्रम में उल्लिखित सुझावों के अनुसार काम कर रही हैं। इस बेहद महत्वपूर्ण दस्तावेज़ के कुछ अंश हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। यह पूरा दस्तावेज़ आगे दिये लिंक से पढ़ा जा सकता है, और समाज में बदलाव की इच्छा रखने वाले हर व्यक्ति को इसे ज़रूर पढ़ना चाहिए: http://naubhas.in/archives/535

मैंने कहा है कि वर्तमान आन्दोलन किसी न किसी समझौते या पूर्ण असफलता में समाप्त होगा।

मैंने यह इसलिए कहा है क्योंकि मेरी राय में इस समय वास्तविक क्रान्तिकारी ताक़तें मैदान में नहीं हैं। यह संघर्ष मध्यवर्गीय दुकानदारों और चन्द पूँजीपतियों के बलबूते किया जा रहा है। यह दोनों वर्ग, विशेषतः पूँजीपति, अपनी सम्पत्ति या मिल्क़ियत ख़तरे में डालने की ज़ुर्रत नहीं कर सकते। वास्तविक क्रान्तिकारी सेनाएँ तो गाँवों और कारख़ानों में हैं — किसान और मज़दूर। लेकिन हमारे 'बुर्जुआ' नेताओं में उन्हें साथ लेने की हिम्मत नहीं है, न ही वे ऐसी हिम्मत कर सकते हैं। यह सोये हुए सिंह यदि एक बार गहरी नींद से जग गये तो वे हमारे नेताओं की लक्ष्य-पूर्ति के बाद भी रुकने वाले नहीं हैं। 1920 में अहमदाबाद के मज़दूरों के साथ अपने प्रथम अनुभव के बाद महात्मा गाँधी ने कहा था, ''हमें मज़दूरों के साथ साँठ-गाँठ नहीं करना चाहिए। कारख़ानों के सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक हितों के लिए इस्तेमाल करना ख़तरनाक है।'' (मई, 1921 के 'दि टाइम्स') से। तब से उन्होंने इस वर्ग को साथ लेने का कष्ट नहीं उठाया। यही हाल किसानों के साथ है। 1922 का बारदोली-सत्याग्रह पूरी तरह यह स्पष्ट करता है कि नेताओं ने जब किसान वर्ग के उस विद्रोह को देखा, जिसे न सिर्फ़ विदेशी राष्ट्र के प्रभुत्व से ही मुक्ति हासिल करनी थी वरन देशी ज़मींदारों की ज़ंजीरें भी तोड़ देनी थीं, तो कितना ख़तरा महसूस किया था।

यही कारण है कि हमारे नेता किसानों के आगे झुकने की जगह अंग्रेज़ों के आगे घुटने टेकना पसन्द करते हैं। पण्डित जवाहर लाल को छोड़ दें तो क्या आप किसी नेता का नाम ले सकते हैं, जिसने मज़दूरों या किसानों को संगठित करने की कोशिश की हो। नहीं, वे ख़तरा मोल नहीं लेंगे। यही तो उनमें कमी है, इसलिए मैं कहता हूँ कि वे सम्पूर्ण आज़ादी नहीं चाहते। आर्थिक और प्रशासकीय दबाव डालकर वे चन्द और सुधार, यानी भारतीय पूँजीपतियों के लिए चन्द और रियायतें हासिल करना चाहेंगे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि इस आन्दोलन का बेड़ा तो डूबेगा ही — शायद किसी न किसी समझौते या ऐसी किसी चीज़ के बिना ही। नवयुवक कार्यकर्ता, जो पूरी तनदेही से 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाते हैं, स्वयं पूरी तरह संगठित नहीं हैं और अपना आन्दोलन आगे ले जाने की ताक़त नहीं रखते हैं। वास्तव में पण्डित मोतीलाल नेहरू के सिवाय हमारे बड़े नेता कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते। यही कारण है कि वे हर बार गाँधी के आगे बिना शर्त घुटने टेक देते हैं। अलग राय होने पर भी वे पूरे ज़ोर से विरोध नहीं करते और गाँधी के कारण प्रस्ताव पास कर दिये जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में, क्रान्ति के प्रति पूरी संजीदगी रखने वाले नौवजान कार्यकर्ताओं को मैं चेतावनी देना चाहता हूँ कि कठिन समय आ रहा है, वे चौकस रहें, हिम्मत न हारें और उलझनों में न फँसे। 'महान गाँधी' के दो संघर्षों के अनुभवों के बाद हम आज की परिस्थिति व भविष्य के कार्यक्रम के बारे में स्पष्ट राय बना सकते हैं। अब मैं बिल्कुल सादे ढंग से यह केस बताता हूँ। आप 'इंक़लाब-ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हो। मैं यह मानकर चलता हूँ कि आप इसका मतलब समझते हो। असेम्बली बम केस में दी गयी हमारी परिभाषा के अनुसार इंक़लाब का अर्थ मौजूदा सामाजिक ढाँचे में पूर्ण परिवर्तन और समाजवाद की स्थापना है। इस लक्ष्य के लिए हमारा पहला क़दम ताक़त हासिल करना है। वास्तव में 'राज्य', यानी सरकारी मशीनरी, शासक वर्ग के हाथों में अपने हितों की रक्षा करने और उन्हें आगे बढ़ाने का यन्त्र ही है। हम इस यन्त्र को छीनकर अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। हमारा आदर्श है — नये ढंग से सामाजिक संरचना, यानी मार्क्सवादी ढंग से। इसी लक्ष्य के लिए हम सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल करना चाहते हैं। जनता को लगातार शिक्षा देते रहना है ताकि अपने सामाजिक कार्यक्रम की पूर्ति के लिए अनुकूल व सुविधाजनक वातावरण बनाया जा सके। हम उन्हें संघर्षों के दौरान ही अच्छा प्रशिक्षण और शिक्षा दे सकते हैं।

इन बातों के बारे में स्पष्टता, यानी हमारे फ़ौरी और अन्तिम लक्ष्य को स्पष्टता से समझने के बाद हम आज की परिस्थिति का विश्लेषण कर सकते हैं। किसी भी स्थिति का विश्लेषण करते समय हमें हमेशा बिल्कुल बेझिझक, बेलाग या व्यावहारिक होना चाहिए।

... ...

वर्तमान परिस्थिति पर हम कुछ हद तक विचार कर चुके हैं, लक्ष्य-सम्बन्धी भी कुछ चर्चा हुई है। हम समाजवादी क्रान्ति चाहते हैं, जिसके लिए बुनियादी ज़रूरत राजनीतिक क्रान्ति की है। यही है जो हम चाहते हैं। राजनीतिक क्रान्ति का अर्थ राजसत्ता (यानी मोटे तौर पर ताक़त) का अंग्रेज़ी हाथों में से भारतीय हाथों में आना है और वह भी उन भारतीयों के हाथों में, जिनका अन्तिम लक्ष्य हमारे लक्ष्य से मिलता हो। और स्पष्टता से कहें तो — राजसत्ता का सामान्य जनता की कोशिश से क्रान्तिकारी पार्टी के हाथों में आना। इसके बाद पूरी संजीदगी से पूरे समाज को समाजवादी दिशा में ले जाने के लिए जुट जाना होगा। यदि क्रान्ति से आपका यह अर्थ नहीं है तो महाशय, मेहरबानी करें और 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाने बन्द कर दें। कम से कम हमारे लिए 'क्रान्ति' शब्द में बहुत ऊँचे विचार निहित हैं और इसका प्रयोग बिना संजीदगी के नहीं करना चाहिए, नहीं तो इसका दुरुपयोग होगा। लेकिन यदि आप कहते हैं कि आप राष्ट्रीय क्रान्ति चाहते हैं जिसका लक्ष्य भारतीय गणतन्त्र की स्थापना है तो मेरा प्रश्न यह है कि उसके लिए आप, क्रान्ति में सहायक होने के लिए, किन शक्तियों पर निर्भर कर रहे हैं? क्रान्ति राष्ट्रीय हो या समाजवादी, जिन शक्तियों पर हम निर्भर हो सकते हैं — वे हैं किसान और मज़दूर। कांग्रेसी नेताओं में इन्हें संगठित करने की हिम्मत नहीं है, इस आन्दोलन में यह आपने स्पष्ट देख लिया है। किसी और से अधिक उन्हें इस बात का अहसास है कि इन शक्तियों के बिना वे विवश हैं। जब उन्होंने सम्पूर्ण आज़ादी का प्रस्ताव पास किया तो इसका अर्थ क्रान्ति ही था, पर इनका (कांग्रेस का) मतलब यह नहीं था। इसे नौजवान कार्यकर्ताओं के दबाव में पास किया गया था और इसका इस्तेमाल वे धमकी के रूप में करना चाहते थे, ताकि अपना मनचाहा डोमिनियन स्टेटस में हासिल कर सकें। आप कांग्रेस के पिछले तीनों अधिवेशनों के प्रस्ताव पढ़कर उस सम्बन्ध में ठीक राय बना सकते हैं। मेरा इशारा मद्रास, कलकत्ता व लाहौर अधिवेशनों की ओर है। कलकत्ता में डोमिनियन स्टेटस की माँग का प्रस्ताव पास किया गया। 12 महीने के भीतर इस माँग को स्वीकार करने के लिए कहा गया और यदि ऐसा न किया गया तो कांग्रेस मजबूर होकर पूर्ण आज़ादी को अपना उद्देश्य बना लेगी। पूरी संजीदगी से वे 31 दिसम्बर, 1929 की आधी रात तक इस तोहफ़े को प्राप्त करने का इन्तज़ार करते रहे और तब उन्होंने पूर्ण आज़ादी का प्रस्ताव मानने के लिए स्वयं को 'वचनबद्ध' पाया, जो कि वे चाहते नहीं थे। और तब भी महात्मा जी ने यह बात छिपाकर नहीं रखी कि बातचीत के दरवाज़े खुले हैं। यह था इसका वास्तविक आशय। बिल्कुल शुरू से ही वे जानते थे कि उनके आन्दोलन का अन्त किसी न किसी तरह के समझौते में होगा। इस बेदिली से हम नफ़रत करते हैं न कि संघर्ष के किसी मसले पर समझौते से।

हम इस बात पर विचार कर रहे थे कि क्रान्ति किन-किन ताक़तों पर निर्भर है? लेकिन यदि आप सोचते हैं कि किसानों और मज़दूरों को सक्रिय हिस्सेदारी के लिए आप मना लेंगे तो मैं बताना चाहता हूँ कि वे किसी प्रकार की भावुक बातों से बेवक़ूफ़ नहीं बनाये जा सकते। वे साफ़-साफ़ पूछेंगे कि उन्हें आपकी क्रान्ति से क्या लाभ होगा, वह क्रान्ति जिसके लिए आप उनके बलिदान की माँग कर रहे हैं। भारत सरकार का प्रमुख लार्ड रीडिंग की जगह यदि सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास हो तो उन्हें (जनता को) इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? एक किसान को इससे क्या फ़र्क़ पड़ेगा, यदि लार्ड इरविन को जगह सर तेज बहादुर सप्रू आ जायें। राष्ट्रीय भावनाओं की अपील बिल्कुल बेकार है। उसे आप अपने काम के लिए 'इस्तेमाल' नहीं कर सकते। आपको गम्भीरता से काम लेना होगा और उन्हें समझाना होगा कि क्रान्ति उनके हित में है और उनकी अपनी है। सर्वहारा श्रमिक वर्ग की क्रान्ति, सर्वहारा के लिए।

जब आप अपने लक्ष्य के बारे में स्पष्ट अवधारणा बना लेंगे तो ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप अपनी शक्ति सँजोने में जुट जायेंगे। अब दो अलग-अलग पड़ावों से गुज़रना होगा — पहला तैयारी का पड़ाव, दूसरा उसे कार्यरूप देने का।

जब यह वर्तमान आन्दोलन ख़त्म होगा तो आप अनेक ईमानदार व गम्भीर क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को निराश व उचाट पायेंगे। लेकिन आपको घबराने की ज़रूरत नहीं है। भावुकता एक ओर रखो। वास्तविकता का सामना करने के लिए तैयार होओ। क्रान्ति करना बहुत कठिन काम है। यह किसी एक आदमी की ताक़त के वश की बात नहीं है और न ही यह किसी निश्चित तारीख़ को आ सकती है। यह तो विशेष सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से पैदा होती है और एक संगठित पार्टी को ऐसे अवसर को सँभालना होता है और जनता को इसके लिए तैयार करना होता है। क्रान्ति के दुस्साध्य कार्य के लिए सभी शक्तियों को संगठित करना होता है। इस सबके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को अनेक कुर्बानियाँ देनी होती हैं। यहाँ मैं यह स्पष्ट कह दूँ कि यदि आप व्यापारी हैं या सुस्थिर दुनियादार या पारिवारिक व्यक्ति हैं तो महाशय! इस आग से न खेलें। एक नेता के रूप में आप पार्टी के किसी काम के नहीं हैं। पहले ही हमारे पास ऐसे बहुत से नेता हैं जो शाम के समय भाषण देने के लिए कुछ वक़्त ज़रूर निकाल लेते हैं। ये नेता हमारे किसी काम के नहीं हैं। हम तो लेनिन के अत्यन्त प्रिय शब्द 'पेशेवर क्रान्तिकारी' का प्रयोग करेंगे। पूरा समय देने वाले कार्यकर्ता, क्रान्ति के सिवाय जीवन में जिनकी और कोई ख्वाहिश ही न हो। जितने अधिक ऐसे कार्यकर्ता पार्टी में संगठित होंगे, उतने ही सफलता के अवसर अधिक होंगे।

(पेज 10 पर जारी)

स्मृति में प्रेरणा, विचारों में दिशा

क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा

(पेज 9 से आगे)

पार्टी को ठीक ढंग से आगे बढ़ाने के लिए जिस बात की सबसे अधिक ज़रूरत है वह यह है कि ऐसे कार्यकर्ता स्पष्ट विचार, प्रत्यक्ष समझदारी, पहलक़दमी की योग्यता और तुरन्त निर्णय कर सकने की शक्ति रखते हों। पार्टी में फौलादी अनुशासन होगा और यह ज़रूरी नहीं कि पार्टी भूमिगत रहकर ही काम करे, बल्कि इसके विपरीत खुले रूप में काम कर सकती है, यद्यपि स्वेच्छा से जेल जाने की नीति पूरी तरह छोड़ दी जानी चाहिए। इस तरह बहुत से कार्यकर्ताओं को गुप्त रूप से काम करते जीवन बिताने की भी ज़रूरत पड़ सकती है, लेकिन उन्हें उसी तरह से पूरे उत्साह से काम करते रहना चाहिए और यही है वह ग्रुप जिससे अवसर सँभाल सकने वाले नेता तैयार होंगे।

पार्टी को कार्यकर्ताओं की ज़रूरत होगी, जिन्हें नौजवानों के आन्दोलनों से भरती किया जा सकता है। इसीलिए नवयुवकों के आन्दोलन सबसे पहली मंज़िल हैं, जहाँ से हमारा आन्दोलन शुरू होगा। युवक आन्दोलन को अध्ययन-केन्द्र (स्टडी सर्किल) खोलने चाहिए। लीफ़लेट, पैम्फ़लेट, पुस्तकें, मैगजीन छापने चाहिए। क्लासों में लेक्चर होने चाहिए। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए भरती करने और प्रशिक्षण देने की यह सबसे अच्छी जगह होगी।

उन नौजवानों को पार्टी में ले लेना चाहिए, जिनके विचार विकसित हो चुके हैं और वे अपना जीवन इस काम में लगाने के लिए तैयार हैं। — पार्टी कार्यकर्ता नवयुवक आन्दोलन के काम को दिशा देंगे। पार्टी अपना काम प्रचार से शुरू करेगी। यह अत्यन्त आवश्यक है। ग़दर पार्टी (1914-15) के असफल होने का मुख्य कारण था — जनता की अज्ञानता, लगावहीनता और कई बार विरोध। इसके अतिरिक्त किसानों और मज़दूरों का सक्रिय समर्थन हासिल करने के लिए भी प्रचार ज़रूरी है। पार्टी का नाम कम्युनिस्ट पार्टी हो। ठोस अनुशासन वाली राजनीतिक कार्यकर्ताओं की यह पार्टी बाक़ी सभी आन्दोलन चलायेगी। इसे मज़दूरों व किसानों की तथा अन्य पार्टियों का संचालन भी करना होगा और लेबर यूनियन कांग्रेस तथा इस तरह की अन्य राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभावी होने की कोशिश भी पार्टी करेगी। पार्टी एक बड़ा प्रकाशन-अभियान चलायेगी जिससे राष्ट्रीय चेतना ही नहीं, वर्ग चेतना भी पैदा होगी। समाजवादी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जनता को सचेत बनाने के लिए सभी समस्याओं की विषयवस्तु प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आनी चाहिए और ऐसे प्रकाशनों को बड़े पैमाने पर वितरित किया जाना चाहिए। लेखन सादा और स्पष्ट हो।

मज़दूर आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति हैं जो मज़दूरों और किसानों की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के बारे में बड़े अजीब विचार रखते हैं। ये लोग उत्तेजना फैलाने वाले हैं या बौखलाये हुए हैं। ऐसे विचार या तो ऊलजलूल हैं या कल्पनाहीन। हमारा मतलब जनता की आर्थिक स्वतन्त्रता से है और इसी के लिए हम राजनीतिक ताक़त हासिल करना चाहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुरू में छोटी-मोटी आर्थिक माँगों और इन वर्गों के विशेष अधिकारों के लिए हमें लड़ना होगा। यही संघर्ष उन्हें राजनीतिक ताक़त हासिल करने के अन्तिम संघर्ष के लिए सचेत व तैयार करेगा।

इसके अतिरिक्त सैनिक विभाग संगठित करना होगा। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कई बार इसकी बुरी तरह ज़रूरत होती है। उस समय शुरू करके आप ऐसा ग्रुप तैयार नहीं कर सकते जिसके पास काम करने की पूरी ताक़त हो। शायद इस विषय को बारीक़ी से समझाना ज़रूरी है। इस विषय पर मेरे विचारों को ग़लत रंग दिये जाने की बहुत अधिक सम्भावना है। ऊपरी तौर पर मैंने एक आतंकवादी की तरह काम किया है, लेकिन मैं आतंकवादी नहीं हूँ। मैं एक क्रान्तिकारी हूँ, जिसके दीर्घकालिक कार्यक्रम-सम्बन्धी ठोस व विशिष्ट विचार हैं जिन पर यहाँ विचार किया जा रहा है। 'शस्त्रों के साथी' मेरे कुछ साथी मुझे रामप्रसाद बिस्मिल की तरह इस बात के लिए दोषी ठहरायेंगे कि फाँसी की कोठरी में रहकर मेरे भीतर कुछ प्रतिक्रिया पैदा हुई है। इसमें कुछ भी सच्चाई नहीं है। मेरे विचार वही हैं, मुझमें वही दृढ़ता है और जो वही जोश व स्पिरिट मुझमें यहाँ है, जो बाहर थी — नहीं, उससे कुछ अधिक है। इसलिए अपने पाठकों को मैं चेतावनी देना चाहता हूँ कि मेरे शब्दों को वे पूरे ध्यान से पढ़ें।

उन्हें पंक्तियों के बीच कुछ भी नहीं देखना चाहिए। मैं अपनी पूरी ताक़त से यह कहना चाहता हूँ कि क्रान्तिकारी जीवन के शुरू के चन्द दिनों के सिवाय न तो मैं आतंकवादी हूँ और न ही था; और मुझे पूरा यक़ीन है कि इस तरह के तरीक़ों से हम कुछ भी हासिल नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन पार्टी के इतिहास से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। हमारे सभी काम इसी दिशा में थे, यानी बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन के सैनिक विभाग की जगह अपनी पहचान करवाना। यदि किसी ने मुझे ग़लत समझ लिया है तो वे सुधार कर लें। मेरा मतलब यह कदापि नहीं है कि बम व पिस्तौल बेकार हैं, वरन् इसके विपरीत, ये लाभदायक हैं। लेकिन मेरा मतलब यह ज़रूर है कि केवल बम फेंकना न सिर्फ़ बेकार, बल्कि नुक़सानदायक है। पार्टी के सैनिक विभाग को हमेशा तैयार रहना चाहिए, ताकि संकट के समय काम आ सके। इसे पार्टी के राजनीतिक काम में सहायक के रूप में होना चाहिए। यह अपने आप स्वतन्त्र काम न करे।

जैसे ऊपर इन पंक्तियों में बताया गया है, पार्टी अपने काम को आगे बढ़ाये। समय-समय पर मीटिंगें और सम्मेलन बुलाकर अपने कार्यकर्ताओं को सभी विषयों के बारे में सूचनाएँ और सजगता देते रहना चाहिए। यदि आप इस तरह से काम शुरू कराते हैं तो आपको काफ़ी गम्भीरता से काम लेना होगा। इस काम को पूरा होने में कम से कम बीस साल लगेंगे। क्रान्ति-सम्बन्धी यौवन काल के दस साल में पूरे होने के सपनों को एक ओर रख दें, ठीक वैसे ही जैसे गाँधी के (एक साल में स्वराज के) सपने को परे रख दिया था। न तो इसके लिए भावुक होने की ज़रूरत है और न ही यह सरल है। ज़रूरत है निरन्तर संघर्ष करने, कष्ट सहने और कुर्बानी भरा जीवन बिताने की। अपना व्यक्तिवाद पहले ख़त्म करो। व्यक्तिगत सुख के सपने उतारकर एक ओर रख दो और फिर काम शुरू करो। इंच-इंच कर आप आगे बढ़ेंगे। इसके लिए, हिम्मत, दृढ़ता और बहुत मज़बूत इरादे की ज़रूरत है। कितने ही भारी कष्ट, कठिनाइयाँ क्यों न हों, आपकी हिम्मत न काँपे। कोई भी पराजय या धोखा आपका दिल न तोड़ सके। कितने भी कष्ट क्यों न आयें, आपका क्रान्तिकारी जोश ठण्डा न पड़े। कष्ट सहने और कुर्बानी करने के सिद्धान्त से आप सफलता हासिल करेंगे और यह व्यक्तिगत सफलताएँ क्रान्ति की अमूल्य सम्पत्ति होगीं।

इंक़लाब-ज़िन्दाबाद!

2 फ़रवरी, 1931

... ...

क्रान्ति

क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ़ एक ही अर्थ हो सकता है — जनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में यही है 'क्रान्ति', बाक़ी सभी विद्रोह तो सिर्फ़ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूँजीवादी सड़ाँध को ही आगे बढ़ाते हैं। किसी भी हद तक लोगों से या उनके उद्देश्यों से जतायी हमदर्दी जनता से वास्तविकता नहीं छिपा सकती, लोग छल को पहचानते हैं। भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों को — भारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जो कि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसकी जड़ें, शोषण पर आधारित हैं — आगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते। बुराइयाँ, एक स्वार्थी समूह की तरह, एक-दूसरे का स्थान लेने के लिए तैयार हैं।

साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज़ इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। सभी विचारों वाले राष्ट्रवादी एक उद्देश्य पर सहमत हैं कि साम्राज्यवादियों से आज़ादी हासिल हो। पर उन्हें यह समझाने की भी ज़रूरत है कि उनके आन्दोलन की चालक शक्ति विद्रोही जनता है और उसकी जुझारू कार्रवाईयों से ही सफलता हासिल होगी। चूँकि इसका सरल समाधान नहीं हो सकता, इसलिए स्वयं को छलकर वे उस ओर लपकते हैं, जिसे वे आरजी इलाज, लेकिन झटपट और प्रभावशाली मानते हैं — अर्थात चन्द सैकड़े दृढ़ आदर्शवादी राष्ट्रवादियों के सशक्त विद्रोह के ज़रिये विदेशी शासन को पलटकर राज्य का समाजवादी रास्ते पर पुनर्गठन। उन्हें समय की वास्तविकता में झाँककर देखना चाहिए। हथियार बड़ी संख्या में प्राप्त नहीं हैं और जुझारू जनता से अलग होकर अशिक्षित गुट की बग़ावत की सफलता का इस युग में कोई चांस नहीं है। राष्ट्रवादियों की सफलता के लिए उनकी पूरी क़ौम को हरक़त में आना चाहिए और बग़ावत के लिए खड़ा होना चाहिए। क़ौम कांग्रेस के लाउडस्पीकर नहीं हैं, वरन वे मज़दूर-किसान हैं जो भारत की 95 प्रतिशत जनसंख्या है। राष्ट्र स्वयं को राष्ट्रवाद के विश्वास पर ही हरक़त में लायेगा, यानी साम्राज्यवाद और पूँजीपति की गुलामी से मुक्ति का विश्वास दिलाने से।

हमें याद रखना चाहिए कि श्रमिक क्रान्ति के अतिरिक्त न किसी और क्रान्ति की इच्छा करनी चाहिए और न ही वह सफल हो सकती है।

... ...

क्रान्तिकारी पार्टी

क्रान्तिकारियों के सक्रिय ग्रुप की मुख्य ज़िम्मेदारी, जनता तक पहुँचने और उन्हें सक्रिय बनाने की तैयारी में होती है। यही हैं वे चलते-फिरते दृढ़ इरादों के लोग जो राष्ट्र को जुझारू जीवनी शक्ति देंगे। ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ पकती हैं तो इन्हीं क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों - जो बुर्जुआ व पेटी बुर्जुआ वर्ग से आते हैं और कुछ समय तक इसी वर्ग से आते भी रहेंगे, लेकिन जिन्होंने स्वयं को इस वर्ग की परम्पराओं से अलग कर लिया होता है — से क्रान्तिकारी पार्टी बनेगी और फिर इसके गिर्द अधिक से अधिक सक्रिय मज़दूर-किसान और छोटे दस्तकार राजनीतिक कार्यकर्ता जुड़ते रहेंगे। लेकिन मुख्य तौर पर यह क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों, स्त्रियों व पुरुषों की पार्टी होगी, जिनकी मुख्य ज़िम्मेदारी यह होगी कि वे योजना बनायें, फिर उसे लागू करें, प्रोपेगैण्डा या प्रचार करें, अलग-अलग यूनियनों में काम शुरू कर उनमें एकजुटता लायें, उनके एकजुट हमले की योजना बनायें, सेना व पुलिस को क्रान्ति-समर्थक बनायें और उनकी सहायता या अपनी अन्य शक्तियों से विद्रोह या आक्रमण की शक्ल में क्रान्तिकारी टकराव की स्थिति बनायें, लोगों को विद्रोह के लिए प्रयत्नशील करें और समय पड़ने पर निर्भीकता से नेतृत्व दे सकें।

वास्तव में वही आन्दोलन का दिमाग़ हैं। इसीलिए उन्हें दृढ़ चरित्र की ज़रूरत होगी, यानी पहलक़दमी और क्रान्तिकारी नेतृत्व की क्षमता। उनकी समझ राजनीतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक समस्याओं, सामाजिक रुझानों, प्रगतिशील विज्ञान, युद्ध के नये वैज्ञानिक तरीक़ों और उसकी कला आदि के अनुशासित भाव से किये गये गहरे अध्ययन पर आधारित होनी चाहिए। क्रान्ति का बौद्धिक पक्ष हमेशा दुर्बल रहा है, इसलिए क्रान्ति की अत्यावश्यक चीज़ों और किये कामों के प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया जाता रहा। इसलिए एक क्रान्तिकारी को अध्ययन-मनन अपनी पवित्र ज़िम्मेदारी बना लेना चाहिए।

... ...

ऊपर बताये गये कार्यक्रम से यह निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि क्रान्ति या आज़ादी के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है। 'यह किसी सुन्दरी की तरह सुबह-सुबह हमें दिखायी नहीं देगी' और यदि ऐसा हुआ तो वह बड़ा मनहूस दिन होगा। बिना किसी बुनियादी काम के, बग़ैर जुझारू जनता के और बिना किसी पार्टी के, अगर (क्रान्ति) हर तरह से तैयार हो, तो यह एक असफलता होगी। इसीलिए हमें स्वयं को झिंझोड़ना होगा। हमें हमेशा यह याद रखना चाहिए कि पूँजीवादी व्यवस्था चरमरा रही है और तबाही की ओर बढ़ रही है। दो या तीन साल में शायद इसका विनाश हो जाये। यदि आज भी हमारी शक्ति बिखरी रही और क्रान्तिकारी शक्तियाँ एकजुट होकर न बढ़ सकीं तो ऐसा संकट आयेगा कि हम उसे सँभालने के लिए तैयार नहीं होंगे। आइए, हम यह चेतावनी स्वीकार करें और दो या तीन वर्ष में क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने की योजना बनायें।

फ़रवरी, 1931

महाराष्ट्र में किसानों और आदिवासियों का 'लाँग मार्च' : आन्दोलन के मुद्दे, नतीजे और सबक़

इन्द्रजीत

पिछले दिनों महाराष्ट्र में किसानों और आदिवासियों का बड़ा आन्दोलन हुआ हालाँकि इसके प्रचार में व साथ ही नामकरण में आदिवासियों का अलग से नाम नहीं था। उत्तरी महाराष्ट्र के नासिक से हज़ारों लोग 9 मार्च को विधानसभा घेराव के लिए पैदल मार्च करते हुए चलना शुरू हुए, पैदल जत्थे में बच्चे-बूढ़े-महिलाएँ और जवान सभी शामिल थे। मुम्बई पहुँचने तक रास्ते से जत्थे में और लोग भी जुड़ते चले गये। 12 तारीख़ को किसान और आदिवासी मुम्बई के ऐतिहासिक 'आज़ाद मैदान' पहुँचे। अलग-अलग रपटों के मुताबिक़ इस आन्दोलन में 35-40 हज़ार से लेकर 50 हज़ार तक किसान और आदिवासी शामिल बताये गये। छालों से भरे हुए पैरों के साथ सैकड़ों किलोमीटर की यात्रा तय करके भूखे, धैर्यवान और आशावान चेहरों ने जब मुम्बई में प्रवेश किया तो विभिन्न तरह की प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं। शासन में बैठी भाजपा की एक महिला नेत्री ने इस आन्दोलन को पूरी तरह से प्रायोजित बताया तथा कहा कि इसके पीछे शहरी माओवादी सक्रिय हैं! शिवसेना, कांग्रेस और मनसे तुरन्त आन्दोलन के समर्थन में आ गये तथा सभी में किसानों का हितैषी बनने की होड़ लग गयी। दूसरी तरफ़ मुम्बई और महाराष्ट्र की आम जनता ने किसानों और आदिवासियों के साथ अपनी एकजुटता ज़ाहिर की। कई जगह तो बड़े ही मार्मिक दृश्य उपस्थित हुए। सामाजिक, धार्मिक समूहों से लेकर आम लोगों ने जाति-धर्म-क्षेत्र-भाषा की दीवारों को ढहाकर तहेदिल से किसानों-आदिवासियों यानी ग़रीब मेहनतकशों की मदद की। खाने-पीने के सामान से लेकर दवाई, चप्पल, कपड़े आदि जैसी सामग्री जुटाकर आन्दोलन स्थल तक तथा बढ़ते हुए जत्थे तक पहुँचायीं। आन्दोलन की माँगों के बारे में ज़्यादा न जानते हुए भी लोगों द्वारा इस तरह की सामर्थ्यानुसार मदद, सहयोग और समर्थन करना काबिले-तारीफ़ है।

यह आन्दोलन 'अखिल भारतीय किसान सभा' के नेतृत्व में चला जोकि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित किसान संगठन है। सीपीएम अथवा इसके जन-संगठनों के नेतृत्व में हाल-फ़िलहाल में हुए किसानों समेत कर्मचारियों के आन्दोलनों से भी कई नतीजे निकलते हैं, जोकि नेतृत्व की इनकी भूमिका पर सवाल खड़े करते हैं। पहला तो यही कि इन्हें आन्दोलन को वहीं तक आगे बढ़ाना होता है जहाँ तक वोट बैंक की इनकी रणनीति इसकी इजाज़त देती है। दूसरा आन्दोलनों के दौरान आम जनता को न तो वर्ग सचेत किया जाता तथा न ही हड़ताल - जिसे मज़दूरों के महान नेता लेनिन ने मज़दूर वर्ग की प्राथमिक पाठशाला कहा है - के दौरान राज्यसत्ता के चरित्र को ही लोगों के सामने लाया जाता। तीसरा अपनी संशोधनवादी राजनीति के अनुरूप ही आन्दोलनों में मज़दूरों-ग़रीब किसानों-कर्मचारियों को अर्थवाद के गोल-गोल घेरे में घुमाया जाता है। भारत में संशोधनवादी राजनीति और संशोधनवादियों की वर्ग-सहयोग की कारगुज़ारियों का लम्बा इतिहास रहा है, जोकि अलग से चर्चा का विषय है। हालाँकि इस लॉन्ग मार्च की अधिकतर माँगों को महाराष्ट्र की फड़नवीस सरकार के द्वारा मान लिया गया है, किन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ऐसी ही माँगें महाराष्ट्र सरकार पहले भी मान चुकी है! आन्दोलन के वर्ग चरित्र पर हम आगे आयेंगे, पर यह ग़ौरतलब है कि तमाम जगहों पर चलाये जाने वाले किसी भी आन्दोलन को उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचाने की बजाय पहले ही हाथ पीछे खींच लेना सीपीएम की पुरानी फ़ितरत रही है। हरियाणा में आशा वर्कर तथा आँगनवाड़ी आन्दोलन में ठीक यही चीज़ देखने को मिली थी। राजस्थान के सीकर से शुरू हुए किसान आन्दोलन के मामले में भी यही हुआ था। आन्दोलन स्थगित हो गया था किन्तु माँगों का क्रियान्वयन नहीं होने के कारण उन्हीं मुद्दों के लिए फिर से जयपुर विधानसभा के घेराव की घोषणा की गयी। सीपीएम के विधायक अमराराम गिरफ़्तार हुए फिर छूट गये और फिर कुछ ही दिन के अन्तराल पर महारानी वसुन्धरा राजे के हाथों सर्वोत्कृष्ट विधायक का पुरस्कार ग्रहण करते पाये गये। फ़िलहाल हम इसी आन्दोलन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

'लॉन्ग मार्च' के नाम से चले इस आन्दोलन की माँगें भी क़रीब-क़रीब वैसी ही हैं, जैसी पिछले लम्बे समय से चले आ रहे किसान आन्दोलनों की रही हैं। यानी कि पूर्ण क़र्ज़ माफ़ी, बिजली बिलों की माफ़ी, फ़सल के लाभकारी मूल्य में बढ़ोत्तरी, स्वामीनाथन आयोग की अन्य सिफ़ारिशों को लागू करवाना इत्यादि। इसके अलावा एक माँग और काबिले-ग़ौर थी, यह माँग दरअसल किसानों से नहीं बल्कि आदिवासी आबादी से जुड़ती है। इस माँग के अनुसार 'वन भूमि अधिनियम 2006' को लागू करना जिसके अनुसार पीढ़ियों से जंगल के संसाधनों का सामूहिक इस्तेमाल करने वाले आदिवासियों को वन्य भूमि का मालिकाना हक़ देना। आदिवासियों से जुड़ती माँग पर हम आगे फिर कभी विस्तार से अपनी बात रखेंगे। कुछ नुक्तों में कहें तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आदिवासियों के वन्य भूमि और संसाधनों के सामुदायिक भोगाधिकार का बेशक समर्थन कर सकते हैं किन्तु मालिकाने की माँग पूँजीवादी व्यवस्था के हित में जाकर खड़ी होती है। पूँजीवाद हर चीज़ को ख़रीदे-बेचे जा सकने वाले माल में तब्दील करता है। वहीं यदि देखा जाये तो भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों के साथ बहुत दिनों तक स्थिति ऐसी ही नहीं रहने वाली है, आने वाले समय में ध्रुवीकरण होना तय है। देश के स्तर पर व्याप्त पूँजीवादी व्यवस्था अपने हितों को देखते हुए इस तरह के एक्ट पारित करती है जिसमें सामूहिक या सामुदायिक मालिकाने की जगह निजी मालिकाने को प्रोत्साहन दिया जाता है। आदिवासी आबादी जिस रूप में ज़मीन से जुड़ी माँग को उठाती है तथा अखिल भारतीय किसान सभा (एआईकेएस) उसे किस रूप में प्रस्तुत करती है यह एक अलग चर्चा का विषय है जिस पर हम अलग से अपनी विस्तृत बात रखेंगे।

किसानों के आन्दोलनों के दौरान पिछले दो-तीन दशकों से उठायी जाने वाली सबसे प्रमुखतम दो माँगें हैं; पहली है फ़सल का लाभकारी मूल्य बढ़ाने की माँग और दूसरी है कृषि में होने वाली लागत को कम करने की माँग। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों में भी उक्त दोनों ही माँगें अभिव्यक्त हुई हैं। सन 2004 में तत्कालीन कांग्रेस नीत 'यूपीए' सरकार के कार्यकाल में मोनकोम्पू साम्बासिवन स्वामीनाथन की अध्यक्षता में किसानों की आर्थिक हालत को बेहतर करने के मक़सद से बनी 'नेशनल कमीशन ऑन फ़ार्मर्स' ने अपनी पाँच रिपोर्टें सरकार के सामने पेश की थीं। आयोग के द्वारा अन्तिम व पाँचवीं रिपोर्ट 4 अक्टूबर 2006 को सौंपी गयी थी। सरकारों द्वारा 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' ('एमएसपी') औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक करने और क़र्ज़ माफ़ी समेत लागत मूल्य कम करने के अलावा आयोग द्वारा की गयी सिफ़ारिशों में भूमि सुधार, सिंचाई, खाद्य सुरक्षा, किसान आत्महत्याओं के समाधान, राज्य स्तरीय किसान आयोग बनाने, सेहत सुविधाओं से लेकर वित्त-बीमा की स्थिति सुनिश्चित करने पर बल दिया गया था।

निश्चय ही देश की काफ़ी बड़ी आबादी कृषि से जुड़ी है किन्तु औसत जोत का आकार छोटा होने के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादकता बेहद कम है, बहुत बड़ी आबादी तो मज़बूरी में खेती-किसानी में उलझी हुई है जिसके पास कोई वैकल्पिक रोज़गार नहीं है। देश के स्तर पर देखा जाये तो 2011 के सामाजिक-आर्थिक सर्वे व 2011-12 की कृषि जनगणना के अनुसार गाँवों के क़रीब 18 करोड़ परिवारों में से 54 प्रतिशत श्रमिक हैं, 30 प्रतिशत खेती, 14 प्रतिशत सरकारी/ग़ैर सरकारी नौकरी, 1.6 प्रतिशत ग़ैर-कृषि कारोबार से जुड़े हैं। सिर्फ़ खेती पर निर्भर 30 प्रतिशत आबादी में 85 प्रतिशत सीमान्त और छोटे किसान हैं जिनके पास क्रमशः एक से दो हेक्टेयर और एक हेक्टेयर से कम ज़मीन है। ऊपर के मध्यम और बड़े 15 प्रतिशत किसानों के पास कुल कृषि योग्य ज़मीन का क़रीब 56 प्रतिशत है। हम सिर्फ़ किसानों की ही बात करें तो स्थिति साफ़-साफ़ दिखायी देती है कि उनका बहुत बड़ा हिस्सा रसातल में है तथा छोटी जोत होने के कारण न केवल इस हिस्से की उत्पादन लागत औसत से अधिक आती है, बल्कि पूँजी के अभाव में यही हिस्सा क़र्ज़ के बोझ तले भी दबा रहता है। 2013 के सैम्पल सर्वे के अनुसार केवल 13 प्रतिशत किसान ही न्यूनतम समर्थन मूल्य, लाभकारी दामों का फ़ायदा उठा पाते हैं और भाजपा के आने के बाद तो यह आँकड़ा 6 प्रतिशत तक भी पहुँचा है। इसका कारण कुछ और नहीं बल्कि औसत उत्पादन लागत में आने वाले ख़र्च का फ़र्क़ ही है, ज़ाहिर सी बात है अपनी निजी कृषि मशीनों-उपकरणों, बड़ी जोत और धनबल के आधार पर बने रसूख के कारण धनी किसानों की कृषि लागत भी कम आयेगी जबकि हर समय क़र्ज़ के बोझ तले दबे और किराये पर उपकरण-मशीनें लेकर खेती में लगे ग़रीब किसानों की कृषि लागत अधिक आयेगी! और यदि सही पड़ताल के साथ देखा जाये तो यह बात भी स्पष्ट है कि सीमान्त व छोटे किसान के लिए सिर्फ़ कृषि पर निर्भर रहकर अपनी आजीविका तक कमा पाना ख़ासा मुश्किल काम है, इसीलिए परिवार के किसी न किसी सदस्य को ग़ैर-कृषि व्यवसाय या नौकरी-चाकरी में ख़ुद को लगाना पड़ता है। दूसरे पहलू से यदि देखा जाये तो आमतौर पर सीमान्त और छोटा किसान जितनी कृषि पैदावार मण्डी में बेचता है उससे कहीं ज़्यादा साल-भर में ख़रीद लेता है। जैसे एक छोटा और सीमान्त किसान गेहूँ, सरसों, बाजरा, धान जैसी फ़सलों का गुज़ारे लायक रखने के बाद एक हिस्सा मण्डी में बेच भले ही ले किन्तु उसे साल भर अन्य कृषि उत्पाद जैसे दालें, चीनी, चावल, पत्ती, तेल, गुड़, तम्बाकू, फल-सब्ज़ी, पशुओं के लिए खल-बिनोला इत्यादि से लेकर वे उत्पाद जिनमें कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का इस्तेमाल होता है, ख़रीदने ही पड़ेंगे। कहना नहीं होगा कि यदि फ़सलों के दाम लागत से 50 प्रतिशत अधिक तय होते हैं तो केवल वे उन्हीं फ़सलों के तो होने से रहे जिन्हें छोटी किसानी का 85 प्रतिशत हिस्सा मण्डी तक पहुँचाता है बल्कि ये बढ़े हुए "लाभकारी" दाम तो सभी फ़सलों पर ही लागू होंगे। या नहीं? तो, अब यह सवाल उठना लाज़िमी है कि फ़सलों के लाभकारी दाम बढ़ाने की माँग किसके हितों में जाती है? निश्चय ही महँगाई में सहायक भूमिका निभाने वाली यह माँग खेत मज़दूरों, औद्योगिक मज़दूरों समेत अन्य मज़दूरों के साथ-साथ शहरी ग़रीबों के ख़िलाफ़ तो है ही बल्कि उक्त माँग असल में ख़ुद ग़रीब किसानों के हितों के भी ख़िलाफ़ जाती है। यह अनायास ही नहीं है कि कांग्रेस नीत 'यूपीए' सरकार के शासन काल में जब समर्थन मूल्यों में तुलनात्मक रूप से वृद्धि की गयी थी तब बदले में बेहिसाब बढ़ी महँगाई ने ग़रीब आबादी की कमर तोड़ने का ही काम किया था। और वहीं दूसरी तरफ़ 2003 से 2013 के 10 वर्षों में कृषि उत्पाद में 13 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी दर्ज हुई, किन्तु इसी दौरान किसानों पर क़र्ज़ 24 प्रतिशत बढ़ गया।

खेती किसानी में लागत मूल्य कम करने की माँग को देखा जाये तो पहली बात तो यही स्पष्ट है कि धनी और ग़रीब किसान दोनों का ही औसत ख़र्च यानी कि लागत अलग-अलग आती है, जिस पर हम थोड़ी-सी बात ऊपर कर आये हैं। दूसरा, लागत मूल्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा 'मज़दूरी' भी होती है। धनी किसान और एग्रो बिज़नेस कम्पनियाँ मज़दूरों की श्रम शक्ति का सीधे इस्तेमाल करती हैं और कृषि मशीनरी निर्माण में लगी श्रमिक आबादी भी श्रमशक्ति बेचकर ही ज़िन्दा रहती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्राथमिक ज्ञान हासिल व्यक्ति भी इस बात को भली प्रकार से समझ सकता है कि कृषि की लागत क़ीमतों को कम तभी किया जा सकता है जब कृषि की आगत लागतों ('इनपुट कॉस्ट') को कम किया जाये। और आमतौर पर कम यह तभी हो सकती हैं जब कृषि व सम्बन्धित उद्यमों में लगे श्रमिकों की या तो मज़दूरी घटायी जाये, या उतनी ही मज़दूरी में अधिक घण्टे काम लिया जाये या फिर श्रम की सघनता बढ़ायी जाये। सरकारों से साँठ-गाँठ करके कृषि क्षेत्र में लगी खाद-बीज, 'एग्रो-बिज़नेस' और बैंक-बीमा कम्पनियाँ ख़ुद ही धनी किसानों के पूँजी निवेश का एक माध्यम हैं। निश्चय ही सरकारें इनकी लूट और अन्धेरगर्दी पर आँच नहीं आने देंगी। यह बात भी स्पष्ट ही है कि कृषि मशीनों का ज़्यादा इस्तेमाल तो धनी किसान यानी 'कुलक फ़ार्मर' ही करते हैं, सीमान्त और छोटे किसान तो कृषि उपकरणों और मशीनरी को भाड़े-किराये पर ही लेते हैं। इस प्रकार से लागत मूल्यों में कमी की माँग भी समाज के 'किस तबक़े के पक्ष में' जायेगी और 'किस तबक़े के विरुद्ध' यह स्पष्ट है।

किसान आन्दोलनों के घोषणापत्रों में एक माँग 'क़र्ज़ माफ़ी' की भी रहती है। यही नहीं विभिन्न चुनावी मदारी क़र्ज़ माफ़ी का मुद्दा उछालकर किसानों के वोट भी बटोरते रहे हैं। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशें पेश किये जाने के बाद से ही यदि देखा जाये तो कई बार अलग-अलग मौक़ों पर बिजली बिलों से लेकर, क़र्ज़ माफ़ होते रहे हैं किन्तु ग़रीब किसान फिर-फिर क़र्ज़ के बोझ तले ख़ुद को दबा हुआ पाते हैं। इसलिए समस्या के असल कारण कहीं और हैं। तथा क़र्ज़ केवल ग़रीब किसान ही नहीं लेते बल्कि धनी किसान भी लेते हैं जिसे वे माफ़ी के दौरान सीधे तौर पर निगल जाते हैं और शुद्ध मुनाफ़ा कमाते हैं। क़र्ज़ माफ़ी का टोना-टोटका और झाड़-फूँक तात्कालिक तौर पर भले ही राहत देती प्रतीत होती हों, किन्तु दूरगामी तौर पर यह भी छलावा मात्र ही है। पूँजीवादी व्यवस्था की गतिकी ही ऐसी है कि इसमें ग़रीब किसानों की हालत बद से बदतर

(पेज 12 पर जारी)

मज़दूर साथियो, सावधान! श्रम क़ानूनों में बदलाव करके स्थायी रोज़गार को ख़त्म करने की दिशा में क़दम बढ़ा चुकी है सरकार

(पेज 1 से आगे)

है! दुनियाभर की कम्पनियाँ भारत में धरमखाता चलाने के लिए पूँजी-निवेश करने नहीं आयेंगी, वे आयेंगी यहाँ के सस्ते श्रम की मनचाही लूट से मुनाफ़ा बटोरने के लालच में।

मज़दूरों में असन्तोष, ट्रेड यूनियनों और कुछ विपक्षी दलों के विरोध के कारण केन्द्र सरकार जहाँ सीधे अपनी पहल पर श्रम क़ानूनों को नहीं बदल पा रही है, वहाँ चोर दरवाज़े से काम ले रही है। जहाँ भी सम्भव हो, अलग-अलग अधिसूचनाओं के ज़रिए नियमों में बदलाव किये जा रहे हैं जिनका लाभ उठाकर राज्य सरकारें अपने यहाँ क़ानूनों में बदलाव कर दे रही हैं। जहाँ भी केन्द्र को ख़ुद संशोधन करने में परेशानी हो रही है, वहाँ राज्यों को राज़ी किया जा रहा है कि मुख्यमंत्री स्तर पर हस्तक्षेप के ज़रिए श्रम क़ानून बदल दिये जायें। श्रम मंत्रालय के अधिकारियों का कहना है कि ऐसे बदलावों के प्रस्ताव आने पर केन्द्र सरकार उन्हें तुरन्त मंजूरी दे दती है।

राजस्थान, मध्यप्रदेश और असम जैसे राज्य पहले ही औद्योगिक विवाद क़ानून में संशोधन करके मज़दूरों की छँटनी, तालाबन्दी या कम्पनी पूरी तरह बन्द करने को आसान बना चुके हैं। महाराष्ट्र ऐसा ही क़ानून पारित करने की पूरी तैयारी कर चुका है जबकि गुजरात, हरियाणा और उत्तर प्रदेश इस महत्वपूर्ण क़ानून में बदलाव करने की तैयारी कर रहे हैं। देश के अधिकतर राज्यों में भाजपा की सरकारें होने से अब उनके लिए यह काम और आसान हो गया है।

यूनियनों द्वारा उठायी गयी आशंका पर श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी ने पिछले दिनों सफ़ाई दी कि ''केन्द्र सरकार ऐसे उपाय करने की योजना बना रही है जिससे कम्पनियाँ प्रस्तावित 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' के प्रावधान का लाभ उठाकर अपने स्थायी मज़दूरों को ठेका कर्मचारियों में न बदल पायें।'' लेकिन जब सरकार पूरी तरह ''बाज़ार की सच्चाइयों से मेल खाने'' के नाम पर रोज़गार-सुरक्षा को ख़त्म करने पर आमादा हो तो ऐसे आश्वासनों का क्या मतलब होगा, इसे समझा जा सकता है।

पिछली फरवरी में इस मसले पर बुलायी गयी बैठक में आने वाले सभी 12 राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों ने 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' का समर्थन किया। तीन केंद्रीय यूनियनों - आरएसएस से जुड़े भारतीय मज़दूर संघ (बीएमएस), नेशनल फ्रंट ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स और ट्रेड यूनियन कोआर्डिनेशन सेंटर ने भी इस क़दम का समर्थन किया। मालिकों की एसोसिएशनों की ओर से तो समर्थन होना ही था। अन्य यूनियनों ने यह कहकर मीटिंग से वॉक आउट किया कि केन्द्रीय बजट में इस क़दम की घोषणा करने से पहले उनसे राय-मशविरा नहीं किया गया। इनमें वामपंथी यूनियनों सीटू और एटक भी शामिल थीं। यानी उनका कुल विरोध इस बात से था कि ऐसे घनघोर मज़दूर-विरोधी क़दम की घोषणा करने से पहले उनसे पूछा क्यों नहीं गया! ये दल्ले पिछले तीन दशक से यही करते रहे हैं। मज़दूरों को बहलाने-फुसलाने के लिए विरोध का झूठा नाटक, और फिर हर मज़दूर-विरोधी क़दम को आराम से लागू होने देना। एक-एक करके मज़दूरों के सारे अधिकार छीन लिये गये और ये बस रस्मी विरोध का झुनझुना ही बजाते रह गये।

जैसाकि देखने में आया है, असन्तोष बढ़ने के डर से सरकारें ऐसे क़ानूनों को एक झटके में और तेज़ी से लागू नहीं करती हैं। पहले इसके पक्ष में माहौल बनाया जाता है, फिर वामपंथी यूनियनें या कुछ विपक्षी दल विरोध का शोर उठाते हैं तो उसे कुछ समय के लिए टाल दिया जाता है, या थोड़ा हल्का कर दिया जाता है। या फिर ऐसे क़दमों को टुकड़े-टुकड़े में, थोड़ा-थोड़ा करके लागू किया जाता है। ऐसे में छिटपुट कुछ विरोध होता है तो उसे आसानी से दबा दिया जाता है और कुछ वर्षों में वह मज़दूर-विरोधी क़दम एक सामान्य बात के तौर पर स्वीकृत हो जाता है। ठेका प्रळाा को बड़े पैमाने पर ऐसे ही लागू कराया गया है। इस रूप में भी ये नकली वामपंथी मज़दूरों के दुश्मन और इस व्यवस्था के रक्षक साबित होते हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि पूँजीपतियों की तमाम संस्थाएँ और भाड़े के बुर्जुआ अर्थशास्त्री उछल-उछलकर सरकार के इन प्रस्तावित बदलावों का स्वागत कर रहे हैं और कह रहे हैं कि अर्थव्यवस्था में जोश भरने और रोज़गार पैदा करने का यही रास्ता है। कहा जा रहा है कि आज़ादी के तुरन्त बाद बनाये गये श्रम क़ानून विकास के रास्ते में बाधा हैं इसलिए इन्हें कचरे की पेटी में फेंक देना चाहिए और श्रम बाज़ारों को ''मुक्त'' कर देना चाहिए। विश्व बैंक ने भी 2014 की एक रिपोर्ट में कह दिया था कि भारत में दुनिया के सबसे कठोर श्रम क़ानून हैं जिनके कारण यहाँ पर उद्योग व्यापार की तरक्की नहीं हो पा रही है। मोदी सरकार लगातार ''ईज़ ऑफ़ डूइंग बिज़नेस'' के नाम पर उन क़ानूनों में बदलाव लाने पर ज़ोर दे रही है जिनके कारण मज़दूरों की छुट्टी करना कठिन होता है।

बुर्जुआ और संसदमार्गी वामपंथी दलों से जुड़ी यूनियनें मजदूरों के अतिसीमित आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त के लिए भी सड़क पर उतरने की हिम्मत और ताक़त दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाजी करते-करते खो चुकी है। वैसे भी देश की कुल मज़दूर आबादी में 90 फीसदी से अधिक जो असंगठित मज़दूर हैं, उनमें इनकी मौजूदगी बस दिखावे भर की ही है। अब सफेद कॉलर वाले मजदूरों, कुलीन मजदूरों और सर्विस सेक्टर के मध्यवर्गीय कर्मचारियों के बीच ही इन यूनियनों का वास्तविक आधार बचा हुआ है और सच्चाई यह है कि नवउदारवाद की मार जब समाज के इस संस्तर पर भी पड़ रही है तो ये यूनियनें इनकी माँगों को लेकर भी प्रभावी विरोध दर्ज करा पाने में अक्षम होती जा रही है। बहरहाल, रास्ता अब एक ही बचा है। गाँवों और शहरों की व्यापक मेहनतकश आबादी को सघन राजनीतिक कार्रवाइयों के जरिए, जीने के अधिकार सहित सभी जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य से, उनके विशिष्ट पेशों की चौहद्दियों का अतिक्रमण करके, इलाकाई पैमाने पर संगठित करना होगा। दूसरे, अलग-अलग सेक्टरों की ऐसी पेशागत यूनियनें संगठित करनी होगी, जिसके अन्तर्गत ठेका मज़दूर और सभी श्रेणी के अनियमित मज़दूर मुख्य ताकत के तौर पर शामिल हों। पुराने ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारी नवोन्मेष की सम्भावनाएँ अब अत्यधिक क्षीण हो चुकी हैं। अब एक नयी क्रान्तिकारी शुरुआत पर ही सारी आशाएँ टिकी हैं, चाहें इसका रास्ता जितना भी लम्बा और कठिन क्यों न हो।

नवउदारवाद के दौर ने स्वयं ऐसी वस्तुगत स्थितियाँ पैदा कर दी हैं कि मज़दूर वर्ग यदि अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए नहीं लड़ेगा तो सीमित आर्थिक माँगों को भी लेकर नहीं लड़ पायेगा। मज़दूर क्रान्तियों की पराजय के बाद मज़दूर आबादी के अराजनीतिकीकरण की जो प्रवृति हावी हुई है, उसका प्रतिरोध करते हुए ऐसे हालात बनाने के लिए अब माकूल और मुफीद माहौल तैयार हुआ है कि मज़दूर वर्ग एक बार फिर नये सिरे से क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना के नये युग में प्रवेश करे। जाहिर है, यह अपने आप नहीं होगा। इसके लिए सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान और आज के नये हालात (यानी नवउदारवाद के दौर में पूँजीवाद की नयी कार्यप्रणाली) का गहन अध्ययन और जाँच-पड़ताल करके सर्वहारा क्रान्तिकारियों के नये दस्तों को मैदान में उतरना होगा। आगे का रास्ता निश्चय ही लम्बा और कठिन है, लेकिन विश्व पूँजीवाद का मौजूदा असमाधेय ढाँचागत संकट बता रहा है कि पूँजी और श्रम के बीच संघर्ष का अगला चक्र श्रम की शक्तियों की निर्णायक विजय की परिणति तक पहुँचेगा। ऐसी स्थिति में लम्बा और कठिन रास्ता होना लाजिमी है, लेकिन हजार मील लम्बे सफर की शुरुआत भी तो एक छोटे से कदम से ही होती है।

पूँजीपतियों की लगातार कम होती मुनाफ़े की दर और ऊपर से आर्थिक संकट तथा मज़दूर वर्ग में बढ़ रहे बग़ावती सुर से निपटने के लिए पूँजीपतियों के पास आखिरी हथियार फासीवाद होता है। भारत के पूँजीपति वर्ग ने भी नरेन्द्र मोदी को सत्ता में पहुँचाकर अपने इसी हथियार को आज़माया है। फासीवादी सत्ता में आते तो मोटे तौर पर मध्यवर्ग (तथा कुछ हद तक मज़दूर वर्ग भी) के वोट के बूते पर हैं, लेकिन सत्ता में आते ही वह अपने मालिक बड़े पूँजीपतियों की सेवा में सरेआम जुट जाते हैं।

बात श्रम क़ानूनों को कमजोर करने तक ही नहीं रुकेगी, क्योंकि फासीवाद बड़ी पूँजी के रास्ते से हर तरह की रुकावट दूर करने पर आमादा होता है और यह सब वह ''राष्ट्रीय हितों'' के नाम पर करता है। फासीवादी राजनीति पूँजीपतियों के लिए काम करने और उनका मुनाफ़ा बढ़ाने को इस तरह पेश करती है कि यही देश के लिए काम करना, देश को ''महान'' बनाने के लिए काम करना है। इसके लिए सभी को बिना कोई सवाल-जवाब किये, बिना कोई हक़-अधिकार माँगे काम करना पड़ेगा। लोग अपनी तबाही-बर्बादी के बारे में सोचें नहीं, इसके विरोध में एकजुट होकर लड़ें नहीं, इसी मकसद से तरह-तरह के भावनात्मक मुद्दे भड़काये जाते हैं और धार्मिक बँटवारे किये जाते हैं। देश के मेहनतकशों को अपने अधिकारों पर इस खुली डकैती के ख़िलाफ़ लड़ना है या आपस में एक-दूसरे का सिर फुटौवल करना है, यह फ़ैसला उन्हें अब करना ही होगा।

महाराष्ट्र में किसानों और आदिवासियों का 'लाँग मार्च' : आन्दोलन के मुद्दे, नतीजे और सबक़

(पेज 11 से आगे)

होती जाती है तथा इनका एक हिस्सा लगातार उजड़कर उजरती मज़दूर यानी अपनी मेहनत बेचकर ज़िन्दा रहने वाले मज़दूर वर्ग में शामिल होता रहता है। फिर क़र्ज़ में दी जाने वाली राशि भी सरकारें जनता से ही तो निचोड़ती हैं।

आज के समय में ख़ास तौर पर लाभकारी मूल्य बढ़ाने और लागत मूल्य घटाने की माँगों के समर्थन में विपक्षी पार्टियाँ, चुनावी तथा संशोधनवादी वामपन्थी पार्टियों से जुड़े किसान संगठन, एनजीओ की राजनीति करने वाले, किसान जातियों में वोट बैंक तलाशने वाले क्षेत्रीय गुट, भारत में क्रान्ति की जनवादी और नवजनवादी मंज़िल मानने वाले वामपन्थी संगठन और 'अहा ग्राम्य जीवन' की रट लगाने वाले बुद्धिजीवी सभी एकजुट हैं! किसान आन्दोलनों की मौजूदा स्थिति और इनकी माँगों का वर्ग चरित्र निश्चय ही समाज के प्रबुद्ध, चिन्तनशील और प्रगतिशील तत्त्वों को सोचने के लिए विवश करते हैं। ग़रीब किसानों के दर्द से द्रवित होना, उनके पैरों के छाले देखकर गला रुन्द जाना एक बात है, किन्तु उनकी असल माँगों को समझना और उनके आधार पर उन्हें संगठित करना अलग ही बात है।

ग़रीब किसानों के असल हित आज पूरी तरह से मज़दूरों-मेहनतकशों के हितों के साथ जुड़े हुए हैं। एक ऐसी समाज व्यवस्था ही उन्हें आज के दुखों से छुटकारा दिला सकती है जिसमें उत्पादन के साधनों पर मेहनतकशों का नियन्त्रण हो तथा उत्पादन समाज की ज़रूरतों को ध्यान में रखकर हो, न की निजी मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर। छोटा लगने वाला कोई भी रास्ता मंज़िल तक पहुँचने की दूरी को और भी बढ़ा सकता है। यह बात हम तथ्यों के माध्यम से स्पष्ट कर आये हैं कि लाभकारी मूल्य बढ़ाने और लागत मूल्य घटाने की माँगें असल में ग़रीब किसान आबादी की सही-सही आर्थिक-राजनीतिक माँगें हो ही नहीं सकती।

थोड़ी सी बातचीत के बाद ग़रीब किसान इस बात को अपने सहज बोध से समझ भी लेते हैं कि प्रत्येक फ़सल के साथ उन्हें दो-चार हज़ार रुपये ज़्यादा मिल भी जायेंगे तो इससे स्थिति में कोई गुणात्मक फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला, बल्कि महँगाई बढ़ाकर ब्याज़ समेत इन्हीं की जेब से ये पैसे वापस निकाल लिये जायेंगे। बेरोज़गारी की मार झेल रहे ग़रीब किसानों के बेटे-बेटियों का गुज़ारा थोड़ी-सी ज़मीन में नहीं होने वाला, यह बात भी साफ़ है। इसलिए तर्क के आधार पर सोचा जाना चाहिए और अपने सही वर्ग हितों की पहचान की जानी चाहिए। बेरोज़गारी, बढ़ती महँगाई, सबके लिए शिक्षा और चिकित्सा सुविधा, पूँजीवादी लूट का ख़ात्मा, दमन-शोषण का ख़ात्मा आदि वे मुद्दे होंगे जिनके आधार पर व्यापक जनता को एकजुट किया जा सकता है। यही नहीं इन्हीं माँगों के आधार पर ही अन्य जातियों के ग़रीबों के साथ पुश्तैनी तौर पर खेती-किसानी से जुड़ी जातियों के बहुसंख्यकों की एकजुटता भी बनेगी। जायज़ माँगों के लिए एकजुट संघर्ष की प्रक्रिया में ही आपसी भाईचारा और एकता और भी मज़बूत होंगे। पहचान की राजनीति करने वालों, अस्मितावादी एनजीओ मार्का धन्धेबाज़ों और धनी किसानों की माँगों को लेकर ऐड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने वाली किसान यूनियनों से ग़रीब किसानों का कोई भला नहीं होने वाला है। इस बात को जितना जल्दी समझ लिया जाये, उतना ही न केवल समाज के लिए बेहतर होगा, बल्कि यह ख़ुद ग़रीब किसानों के लिए भी बेहतर होगा।

त्रिपुरा विधानसभा चुनाव के नतीजे और संसदीय वाम का संकट

कविता कृष्णपल्लवी

त्रिपुरा विधानसभा चुनाव में वहाँ तीन दशकों से सत्ता में विराजमान रही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) की हार को लेकर बहुत से लोग सदमे में हैं। इनमें ज़्यादातर ऐसे लोग हैं जिन्हें संसदीय वाम से अब भी काफ़ी उम्मीदें हैं और जो लगातार यह दिवास्वप्न देखते रहते हैं कि संसदीय वाम की पार्टियाँ अब चेत जायेंगी, वे अपनी शीतनिद्रा से जाग जायेंगी और या तो स्वयं एकजुट होकर, या कांग्रेस के साथ मोर्चा बनाकर, या ग़ैरकांग्रेसी बुर्जुआ दलों के साथ मोर्चा बनाकर हिन्दुत्ववादी फ़ासिज़्म की मोदी लहर को, कम से कम 2019 के लोकसभा चुनावों तक तो पीछे धकेल ही देंगी।

त्रिपुरा के चुनावी नतीजों के ठोस विश्लेषण से पहले, ऐसे तमाम लोगों से हम बार-बार कही गयी यह बात फिर से कहना चाहेंगे कि फ़ासिज़्म की वैचारिकी, उसके आर्थिक आधार, उसके उद्भव और प्रभुत्व के कारणों तथा इटली और जर्मनी में फ़ासिस्ट दौर के इतिहास के बारे में प्रचुर मार्क्सवादी साहित्य मौजूद है, उन्हें उसका अध्ययन ज़रूर करना चाहिए। फ़ासिज़्म की लहर को संसदीय चुनावों में हराकर पीछे नहीं धकेला जा सकता। सत्ता में न होते हुए भी यह अपना कहर जारी रखेगा, यह भारत में भी देखा जा चुका है। फ़ासिज़्म सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी वित्तीय पूँजी का प्रतिनिधि और पूँजीवाद के संकट का पूँजीवादी विमोचक होता है। उसकी बुनियादी चारित्रिक विशिष्टता यह होती है कि वह निम्न-बुर्जुआ वर्ग का एक धुर-प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसे तृणमूल स्तर से एक कैडर-आधारित ढाँचे वाला फ़ासिस्ट संगठन संगठित करता है। तृणमूल स्तर से, मज़दूर वर्ग, सभी मेहनतकश वर्गों और मध्य वर्ग के प्रगतिशील हिस्सों का एक रैडिकल सामाजिक आन्दोलन खड़ा करके ही, और मज़दूरों की जुझारू लामबन्दी द्वारा ही इसे शिकस्त दी जा सकती है।

दूसरी बात, बीसवीं शताब्दी के मुकाबले आज की भिन्नता यह है कि नवउदारवाद और पूँजीवाद के व्यवस्थागत संकट के इस दौर में फ़ासिज़्म-विरोधी मोर्चे में बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा, यानी बुर्जुआ वर्ग की कोई भी पार्टी भागीदार नहीं बनेगी। भारत के संसदीय वाम का मूलतः वही ऐतिहासिक अपराध है जो 1920 और 1930 के दशकों में यूरोपीय सामाजिक जनवादी पार्टियों ने किया था। पिछले छह-सात दशकों से ये पार्टियाँ संसदीय चुनावों का 'टैक्टिकल' इस्तेमाल करने की जगह संसदीय राजनीति में डूबी रही हैं, मात्र आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ते हुए मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्षों को पूरी तरह छोड़ चुकी हैं। तृणमूल स्तर से विभिन्न जुझारू सामाजिक आन्दोलन खड़ा करके आम जनता की वर्ग चेतना और वर्गीय एकजुटता को उन्नत करना तो इनके एजेण्डा पर कभी रहा ही नहीं। ऐसे में, नवउदारवाद के इस दौर में, संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ यदि संसदीय राजनीति में भी हाशिये पर पहुँचती जा रही हैं तो इससे आश्चर्य और दुःख मिथ्या आशावाद के शिकार उन्हीं लोगों को होगा, जो मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-माओ के मार्क्सवाद और बर्नस्टीन-काउत्स्की-ख्रुश्चेव-देंग सियाओ-पिंग के छद्म मार्क्सवाद में कोई अन्तर करना ही नहीं जानते, यानी बकौल लेनिन, वे मार्क्सवाद का क-ख-ग भी नहीं जानते, क्योंकि वे मार्क्सवाद और संशोधनवाद में कोई अन्तर नहीं कर पाते।

विचार-विहीन भावुकता और आदर्शवाद का आलम यह है कि कुछ अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग यह प्रलाप तक करने लगे हैं कि जनता अगर माणिक सरकार जैसे सादगी और ग़रीबी में रहने वाले स्वच्छ छवि के व्यक्ति को किनारे हटाकर भाजपा को सत्ता में ला सकती है, तो यह जनता है ही इस लायक कि फ़ासिस्टों का कोप-कहर झेलकर इसकी क़ीमत चुकाये। अरे भलेमानसो, राजनीति में चीज़ें किसी पार्टी के नेता के सादे, भ्रष्टाचार-मुक्त जीवन से नहीं बल्कि व्यक्ति और पार्टी की विचारधारा, राजनीति और नीतियों से तय होती हैं। गाँधी और नेहरू काल के बहुतेरे कांग्रेसी नेता भी सादा जीवन बिताते थे। आपातकाल का समर्थन करने वाले भाकपा नेता इन्द्रजीत गुप्ता भी बेहद सादा जीवन बिताते थे। और पीछे चलें। प्रूधों, बाकुनिन और वाइटलिंग भी बेहद ग़रीबी का जीवन बिताते थे, और मार्तोव, मार्तीनोव जैसे तमाम मेन्शेविक नेता भी भ्रष्टाचारी या अमीरी में जीने वाले लोग नहीं थे। यह उनकी राजनीति से तय होता था कि वे क्रान्तिकारी थे या मज़दूर वर्ग के दुश्मन। यदि चीज़ें नेता के जीने के तरीक़े से ही तय हो जातीं तो तमाम राजनीति विज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्र को जानने की ज़रूरत ही क्या थी! भावुकतावादी मार्क्सवादी लोग मार्क्सवाद तो कुछ पढ़ते नहीं, बस 'कॉमन सेन्स लॉजिक' करते रहते हैं। वे कहते हैं अपने को मार्क्सवादी, पर होते हैं तोल्स्तोयपन्थी।

दूसरी बात, चुनाव में अब भी मोदी को चुनने के लिए जनता को कोसने वाले लोग बुर्जुआ चुनावों से बहुत न्याय-निर्णय की उम्मीद रखते हैं, वे इन चुनावों में पूँजी की भूमिका और फ़ासिस्टों की घपलेबाजियों के रिकार्ड को भी नहीं जानते और इस बात को नहीं समझ पाते कि जनता को कोई सही नेतृत्व यदि सही राजनीतिक चेतना देकर मूल मुद्दों को सही ढंग से उसके सामने रेखांकित न करे, तो पूँजीवादी संकट के दौरों में वह सबसे आसानी से फ़ासिस्टों के लोकरंजक नारों और 'फ़ेटिश' और मिथ्या चेतना के प्रभाव में आ जाती है। कम से कम सामाजिक जनवादियों और संसदीय वामपन्थियों द्वारा दिये जाने वाले विकल्प तो फ़ासिस्टों के लोकरंजक नारों के सामने काफ़ी फीके लगते हैं, ख़ासकर तब जब जनता उन्हें लम्बे समय से देख और भुगत रही हो। वामपन्थी बुद्धिजीवियों की एक फ़ितरत यह भी होती है कि वे हमेशा अपने को किनारे करके बात करते हैं, अपनी भूमिका की कभी कोई चर्चा नहीं करते और जनता को कोसने का कोई भी मौक़ा नहीं छोड़ते। इन दुखी आत्माओं से क्या कहा जा सकता है सिवाय इसके कि हो सके तो उन्हें अपने लिए नयी जनता चुन लेनी चाहिए।

त्रिपुरा में वाम मोर्चे की सरकार और माणिक सरकार के बारे में बुर्जुआ मीडिया में जो ख़बरें आती थीं और सोशल मीडिया पर बीस साल से बिना किसी गम्भीर चुनौती के साफ़-सुथरी सरकार चला रहे माणिक सरकार के बारे में वामपन्थी लोग जो कुछ लिखते रहते थे, उसमें त्रिपुरा की ज़मीनी हकीक़त न के बराबर होती थी। इसीलिए वाम मोर्चे की इस क़दर बुरी पराजय से लोगों को काफ़ी सदमा लगा। त्रिपुरी समाज के अन्तर्विरोधों की ज़मीनी सच्चाइयों को जाने बिना वर्तमान चुनाव-परिणामों को ठीक से नहीं समझा जा सकता, पर उनकी चर्चा से पहले कुछ और ग़ौरतलब तथ्यों को हम सूत्रवत गिना देना चाहते हैं। **पिछले लगभग तीन दशकों से उत्तर-पूर्व के सभी राज्यों में आरएसएस अपना सघन नेटवर्क फैलाकर काम कर रहा है। उत्तर-पूर्व की जनजातियों को हिन्दुत्व की पहचान से जोड़ना, जनजातियों के आपसी टकरावों को और केन्द्र से जारी उनके टकराव को 'पहचान की राजनीति' का आधार देकर उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के संघर्ष को वर्ग-संघर्ष की राजनीति से दूर करना और उन्हें फ़ासिस्ट राजनीति के वैचारिक तौर पर क़रीब लाना - यह संघ की रणनीति रही है,** जो, रैडिकल सशस्त्र संघर्षों के नेतृत्व के क्रमशः पतन और विघटन से पैदा हुए निराशापूर्ण स्पेस में स्थान बनाकर अब धीरे-धीरे रंग भी लाने लगी है। कांग्रेस के लम्बे शासन के दौरान इन इलाक़ों की आबादी जिस उपेक्षा और दमन का शिकार हुई, उसे भी संघ और भाजपा ने ख़ूब भुनाया। 2014 में केन्द्र में सत्तारूढ़ होने के बाद भाजपा ने त्रिपुरा से वाम मोर्चे को उखाड़ फेंकने के प्रोजेक्ट पर विशेष तौर पर काम किया। संघ के स्वयंसेवकों के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर भाजपा कार्यकर्ताओं को वहाँ लगाया गया। माकपा नेतृत्व को यह पता था, लेकिन जैसा सभी संसदीय जड़वामनों के साथ होता है, सरकार चलाते-चलाते यह पार्टी कार्यकर्ता स्तर तक इतनी पलीद हो चुकी है कि इसका कैडर ढाँचा मात्र रस्मी, ढीला-पोला और काहिल होकर रह गया है। दूसरी ओर बुर्जुआ दायरे में भी माकपा ने नीतिगत पंगुता का परिचय दिया और त्रिपुरी जनजातियों के जिस असन्तोष और असुरक्षा का भाजपा लाभ उठा रही थी, उसके शमन के लिए कोई भी महत्वपूर्ण क़दम नहीं उठाया। इन्हें अपने आप पर कुछ ज़्यादा भरोसा भी

(पेज 14 पर जारी)

चेत जाइए, जुझारू बनिए, नहीं तो बिला जायेंगे!

त्रिपुरा में चुनाव परिणाम आने के बाद दो दिनों के भीतर हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों ने वाम मोर्चा के 514 कार्यकर्ताओं पर हमले किये, लेनिन की मूर्ति को बुलडोज़र से गिरा दिया, 1539 घरों में तोड़फोड़ की, 196 घरों को जला दिया, 134 कार्यालयों में तोड़फोड़ की, 64 में आग लगा दी और 208 को क़ब्ज़ा कर लिया।

गुजरात-2002 के बाद यह दूसरा मॉडल है। इसे 2019 तक फ़ासिस्ट पूरे देश में फैला देना चाहते हैं।

लेकिन संसदीय वामपंथी और उदारवादी लोग शायद अब भी इस मुग़ालते में जी रहे हैं कि सूफ़ियाना कलाम सुनाकर, गंगा-जमनी तहजीब की दुहाई देकर, मोमबत्ती जुलूस निकालकर, ज्ञापन-प्रतिवेदन देकर, क़ानून और "पवित्र" संविधान की दुहाई देकर, तराजू के "सेक्युलर" पलड़े और फ़ासिस्ट पलड़े के बीच कूदते रहने वाले छोटे-छोटे क्षेत्रीय दलों और नरम केसरिया लाइन वाली कांग्रेस के साथ मोर्चा बनाकर और चुनाव जीतकर फ़ासिस्टों के क़हर से निजात पा लेंगे। ये लोग भला कब चेतेंगे? न्यायपालिका तो फ़ासिस्टों के बाज़ू की जेब में है और चुनाव आयोग पिछवाड़े की जेब में। पूरी तैयारी इस बात की है कि अगर साम्प्रदायिक विभाजन, अन्धराष्ट्रवादी नारों और ख़रीद-फ़रोख़्त से सरकारें न बनें तो ईवीएम देवी की कृपा हो जावे। ये किसी को "शाकाहारी" मानकर बख्शेंगे नहीं। अब तो सडकों पर उतरने, आमने-सामने की भिड़न्त करने और कार्यकर्ताओं को लड़ाकू बनाने से दूर मत रहिये। विचारधारात्मक मतभेद और संघर्ष जारी रहेंगे, वह अलग मंच की बात है। पर यदि ये फ़ासिस्टों से भिड़न्त करने को तैयार हैं तो हम प्राणपण से उनके साथ हैं। इनसे यही कहा जा सकता है कि अब तो 1920-30 के दशकों के यूरोपीय इतिहास की शिक्षाओं को याद कीजिए। वह आत्मघाती हरक़त मत कीजिए जो उस समय सामाजिक जनवादियों ने की थी। यह संसदवाद, क़ानूनवाद और अर्थवाद का रास्ता जिस अन्धी घाटी तक जाता है, वह दूर नहीं है। चेत जाइए, नहीं तो बिला जायेंगे।

इन फ़ासिस्ट गुण्डों ने कई बार हम लोगों की पुस्तक-प्रदर्शनी वैन तोड़ी, शहीद मेला जैसे कई आयोजनों पर हमले किये, घुसकर हंगामा किया, छात्र मोर्चा और मज़दूर मोर्चा के साथियों से मारपीट की, फ़र्जी मुक़द्दमे दर्ज कराये। हमेशा हम लोगों ने इनका मुकाबला किया, आक्रामक प्रतिरक्षा की नीति अपनायी और लाठी-डण्डे का जवाब लाठी-डण्डे से दिया। ये फ़ासिस्ट अन्दर से कायर भी होते हैं। 1960 के दशक में, जब संशोधनवाद आने के बावजूद कतारों में जुझारूपन अभी बचा हुआ था, तो फ़ासिस्टों की भीड़ "चीन के दलाल" जैसे नारे लगाते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के दफ़्तरों पर हमला करती थी, तो दफ़्तर में बैठे लोग झण्डे-बैनर के डण्डे निकालकर उन्हें दौड़ा लेते थे। लेकिन इन्हें अपना यह इतिहास भी अब याद नहीं होगा।

सोचिए कि आप वर्ग-संघर्ष की बात करते हैं और आपकी क़तारों से बहादुरी, जुझारूपन और कुर्बानी के ज़ज्बे का इस क़दर लोप क्यों हो गया है! इसके पीछे आपकी राजनीतिक लाइन ज़िम्मेदार है, पर अभी लाइन पर बहस करने का समय नहीं है। अभी तो बस इतना कह रहे हैं कि हालात पर सोचिए, आरामतलबी और आभिजात्य छोड़िए, कम से कम पुराने रैडिकल बुर्जुआओं जितना तो लड़ाकूपन दिखाइए। तथाकथित बड़ी पार्टी होने की अहम्मन्यता और श्रेष्ठता-बोध से मुक्ति पाइये। इतनी बड़ी-बड़ी यूनियनें होने की डींगें हाँकते हैं और क्या हो रहा है? कुछ हज़ार मज़दूरों के भी फ़ासिस्ट-विरोधी लड़ाकू दस्ते तैयार नहीं हैं। यह अर्थवाद का दीमक तो आपने ही पैठाया है मज़दूर आन्दोलन के भीतर! आप ही ने तो मज़दूरों को अराजनीतिक बनाया है! अब वह अराजनीतिक मज़दूर भी यदि सिर्फ़ आसन्न आर्थिक स्वार्थ के लिए लड़ता है, जाति-धरम पर बँट जाता है और कमल पर बटन दबाता है और उसके विमानवीकृत, विघटित चेतना वाले हिस्से के भीतर से फ़ासिस्टों की गुण्डा-फ़ौज में भरती होती है, तो आश्चर्य की क्या बात है। यह तो इतिहास अपने को दुहरा रहा है। फ़ासिज़्म के धुर-प्रतिक्रियावादी पेटी-बुर्जुआ सामाजिक आन्दोलन के बरक्स तृणमूल स्तर से मेहनतकश जनता और प्रगतिशील मध्य वर्ग का जुझारू सामाजिक आन्दोलन संगठित करने के बारे में कभी आपने सोचा तक नहीं। क्यों? क्या जवाब है इसका आपके पास? आपको यह तो सोचना ही होगा कि त्रिपुरा में जब इतने बड़े पैमाने पर आपके कार्यकर्ताओं पर हमले हो रहे थे, घरों और कार्यालयों को जलाया जा रहा था, तो आपके कार्यकर्ताओं ने जुझारू प्रतिरोध क्यों नहीं किया, एक भी जगह फ़ासिस्ट गुण्डों को उन्होंने दौड़ाया और पीटा क्यों नहीं? कथनी में मार्क्स-लेनिन और करनी में गान्ही बाबा! और गान्ही बाबा भी कह गये हैं कि यदि कायरता और हिंसा में चुनना हो तो हिंसा को चुनना श्रेयस्कर होगा!

जीना है तो लड़ना सीखिए। अगर लड़ेंगे नहीं तो फ़ासिस्ट आपको ज़मीन के नीचे दफ़न कर देंगे और फिर आपकी हड्डियों को निकालकर कहेंगे - देखो, ये बातबहादुर, कायर संसदमार्गी कम्युनिस्टों की हड्डियाँ हैं, देखो!

त्रिपुरा विधानसभा चुनाव के नतीजे और संसदीय वाम का संकट

(पेज 13 से आगे)

था, जिसके चलते इन्हें यह उम्मीद ही नहीं थी कि वाम मोर्चा प्रचण्ड बहुमत से सीधे 16 सीटों पर आ जायेगा और 2 सीटों वाली भाजपा 'इण्डीजेनस पीपुल्स फ्रण्ट ऑफ़ त्रिपुरा' (आईपीएफ़टी) के साथ मोर्चा बनाकर 43 सीटें हासिल कर लेगी। कुछ लोगों को इस बात पर भी आश्चर्य है कि भाजपा और माकपा के बीच मात्र दशमलव 3 प्रतिशत वोट प्रतिशत के अन्तर पर सीटों में इतना अन्तर कैसे? भाजपा के अपने 43 प्रतिशत के साथ आईपीएफ़टी के 7.5 प्रतिशत को जोड़ दिया जाये और माकपा के 42 प्रतिशत के साथ अन्य वाम दलों के वोट प्रतिशत को जोड़ दिया जाये तो भी दोनों के बीच अन्तर 6 प्रतिशत के आसपास है और जनजाति-बहुल इलाक़ों के अतिरिक्त पूरे राज्य में भी जनजाति आबादी जिस तरह बिखरी हुई है, यदि उसने एकजुट होकर भाजपा गठबन्धन को वोट दिया तो सीटों का इतना अन्तर हो सकता था। एक कारक यह भी था कि संघ कार्यकर्ताओं ने घर-घर तक पहुँच बनाकर बूथ-मैनेजमेण्ट बहुत कुशल ढंग से किया था, जबकि वाम मोर्चा ने इस मामले में भी काहिली दिखायी थी। फ़ासिस्टों के चाल-चेहरा-चरित्र को देखते हुए ईवीएम घपले का उनके द्वारा सहारा लेने से इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन इस ब्रह्मास्त्र का सेलेक्टिव इस्तेमाल वे कर्नाटक, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान जैसे बड़े राज्यों के चुनावों में और 2019 के लोकसभा चुनावों में करेंगे, इसकी सम्भावना ज़्यादा है। त्रिपुरा में तो परिस्थितियाँ वैसे भी उनके पक्ष में थीं।

तो अब आइए, ज़रा उन परिस्थितियों पर एक सरसरी नज़र दौड़ा ली जाये।

1947 के पहले त्रिपुरा ब्रिटिश शासन के मातहत एक रियासत थी। 1949 में इसका भारत में विलय हो गया। इसका एक हिस्सा, टिप्पेरा ज़िला पूर्वी पाकिस्तान में शामिल हुआ। यूँ तो बंगाली आबादी त्रिपुरा में पहले से रहती थी, लेकिन विभाजन के समय तक बहुसंख्या स्थानीय जनजातियों की ही थी। विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान से बड़े पैमाने पर बंगाली शरणार्थी आबादी त्रिपुरा में आकर बसी और स्थानीय जनजाति आबादी अल्पमत में आ गयी। 1971 के बंगलादेश युद्ध के समय और उसके बाद भी बंगाली शरणार्थी आबादी त्रिपुरा में आती रही। आज स्थिति यह है कि त्रिपुरा की कुल आबादी में मात्र 30 प्रतिशत जनजातीय आबादी रह गयी है। इस स्थिति के चलते जनजातीय आबादी के भीतर असन्तोष और असुरक्षा-बोध की भावना 1950 के दशक से ही पनपने लगी थी। यहाँ यह भी बता देना ज़रूरी है कि 1947 के पहले ही त्रिपुरा में कम्युनिस्ट रुझान की कई क्षेत्रीय पार्टियाँ मौजूद थीं जो स्थानीय राजशाही के विरुद्ध आदिवासी आबादी को संगठित करती थीं। पर आज़ाद भारत में कम्युनिस्ट पार्टी ने इस स्थिति का कोई फ़ायदा नहीं उठाया, क्योंकि तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी पूरी तरह से घुटने टेककर संसदमार्गी हो चुकी थी। देश विभाजन से त्रिपुरा का सबसे बड़ा नुक़सान हुआ - उसका शेष भारत से भू-राजनीतिक अलगाव। तीन ओर से वह बंगलादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) से घिरा था। सिर्फ़ उत्तर-पूर्व और पूर्व में असम और मेघालय की सीमाएँ इससे लगती हैं, जहाँ से दो राष्ट्रीय राजमार्ग इसे शेष देश से जोड़ते हैं। लुम्डिग (असम) से एक छोटी रेललाइन त्रिपुरा में जाती भी थी तो राजधानी अगरतला तक नहीं, बल्कि सिर्फ़ धर्मनगर तक। इससे इस राज्य की उपेक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है कि 2008-09 में पहली बार अगरतला तक रेललाइन पहुँची और 2016 में उसे बड़ी लाइन किया गया। विभाजन के बाद कोलकाता से अगरतला की सड़क मार्ग से दूरी 350 किलोमीटर से बढ़कर 1700 किलोमीटर हो गयी थी। ऐसी स्थिति में होना तो यह चाहिए था कि केन्द्र की सरकार त्रिपुरा के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान देती, पर हुआ ठीक इसके उलटा। आज भी त्रिपुरा की स्थिति यह है कि वहाँ कोई भी बड़ा उद्योग नहीं है। सिर्फ़ ईंट-भट्ठे हैं, चाय के बाग़ान हैं, कुछ रबर प्लाण्टेशन हैं और थोडा बाँस पैदा किया जाता है। सिर्फ़ 27 प्रतिशत ही ज़मीन खेती लायक है, जिसमें से 91 प्रतिशत पर धान की खेती होती है और वह भी पिछड़ी क़िस्म की। शेष पर गन्ना, जूट, और दालों की फ़सल होती है। त्रिपुरा सरकार के आँकड़ों के हिसाब से, उपभोग वितरण के पैमाने से राज्य की 55 प्रतिशत ग्रामीण आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करती है। विडम्बना यह है कि 94 प्रतिशत साक्षर आबादी के साथ त्रिपुरा साक्षरता के मामले में पूरे देश में पहला स्थान रखता है। ऐसे में बेरोज़गारी की समस्या की गम्भीरता को सहज ही समझा जा सकता है। स्थानीय जनजाति आबादी शिक्षा के मामले में पीछे नहीं है, लेकिन नौकरियों में वह बंगाली आबादी से काफ़ी पीछे है। जिस राज्य में कुल मिलाकर, वाम मोर्चा ने 30 वर्षों तक शासन किया हो, वहाँ की यह स्थिति ढेर सारे सवाल तो खड़े ही करती है। एक और जानकारी यह कि त्रिपुरा में राज्य कर्मचारियों का वेतन अभी तक चौथे वेतन आयोग की अनुशंसा के अनुरूप था, भाजपा ने सीधे सातवें वेतन आयोग को लागू करने का आश्वासन दिया, जिससे सरकारी कर्मचारी पूरी तरह भाजपा के पक्ष में आ गये। यह तथ्य भी वाम मोर्चे की अकर्मण्यता ही बताता है।

एक और तथ्य भी उल्लेखनीय है। आज़ादी के बाद से चले आ रहे कांग्रेसी राज और मूलत: उन्हीं नीतियों को लागू करते रहे वाम मोर्चे के तीन दशक के राज के फलस्वरूप त्रिपुरा में जो मध्य वर्ग उभरा है, उसकी "विकास" की आकांक्षाएँ अब वाम मोर्चे के शासन में पूरी नहीं हो रही थीं। ऐसे में भाजपा के विकास के वादों से उसका आकर्षित होना लाज़िमी था। ऐसी ही स्थिति पहले बंगाल में देखी जा चुकी है।

त्रिपुरा 1972 तक केन्द्र शासित क्षेत्र था। जनवरी 1972 में उसे मणिपुर और मेघालय के साथ पूर्ण राज्य का दर्जा मिला। राज्य बनने के पहले से ही स्थानीय जनजाति आबादी का अलगाव और असुरक्षा-बोध गम्भीर असन्तोष के रूप में सुलगने लगा था। त्रिपुरा का एकमात्र भूमि सुधार क़ानून 'त्रिपुरा लैण्ड रेवेन्यू एण्ड लैण्ड रिफ़ॉर्म्स एक्ट 1960' है, जिसके अनुसार आदिवासी आबादी की ज़मीन ग़ैर-आदिवासी नहीं ख़रीद सकता, लेकिन बड़े पैमाने पर इसका उल्लंघन होता रहा और बेनामी हस्तान्तरण होते रहे। एक बार 1978 में वाम मोर्चा सरकार ने कोशिश की थी कि आदिवासियों की ज़मीन उन्हें वापस मिले, लेकिन चुनावी राजनीति के चक्कर में बंगाली आबादी के दबाव में वह अपनी मुहिम को दूर तक न ले जा सकी। जनजातियों के भीतर राष्ट्रीय उत्पीड़न का अहसास करने वाली एक और घटना 1965 में बांगला भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा बनाना थी। राज्य की आबादी की 30 प्रतिशत आदिवासी आबादी 19 जनजातियों में बँटी हुई है, जिनमें से अधिकांश कोकबरोक भाषा बोलते हैं। पहली बार 1979 में वाम मोर्चा की सरकार ने कोकबरोक भाषा को औपचारिक मान्यता दी, पर इससे व्यावहारिक स्तर पर कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पडा। 1970 के दशक में आदिवासी और बंगाली आबादी के बीच टकरावों की शुरुआत

(पेज 2 पर जारी)

बैंक घोटाले, भ्रष्ट मोदी सरकार और पूँजीवाद

(पेज 16 से आगे)

था और बैंकों को रुपये तथा विदेशी मुद्रा के क़र्ज़ पर ब्याज़ तथा एलओयू आदि पर कमीशन मिलता था। यह चक्र जब तक चला तब तक सब सामान्य था, जब टूटा तो इसे फ्रॉड का नाम दिया जा रहा है। यही हाल अन्य पूँजीपतियों का भी है। नीरव मोदी और पीएनबी के मामले में दोनों द्वारा लिखे जा रहे विभिन्न पत्र यही बता रहे हैं। एक ओर पीएनबी बता रहा है कि नीरव मोदी को दिया गया क़र्ज़ कोई फ्रॉड नहीं बल्कि बैंक-पूँजीपतियों के बीच सामान्य कारोबारी रिश्ता था, वहीं नीरव मोदी को शिकायत है कि उसके कारोबार में कोई दिक़्क़त नहीं थी, अगर पीएनबी उसको जनवरी में फिर से नया क़र्ज़ दे देता, तो सब सामान्य चलता रहता!

बैंक दो क़िस्म से क़र्ज़ देते हैं। एक, नया कारख़ाना लगाने, विस्तार करने, उन्नत तकनीक और मशीनें लगाने, आदि बड़े निर्माण में स्थाई निवेश के लिए दिये गये क़र्ज़ निश्चित अवधि के होते हैं जिन्हें मासिक, त्रैमासिक, छमाही, सालाना, आदि अन्तराल पर मूल व ब्याज़ की किश्तों में चुकाना होता है। दूसरे, उत्पादन के लिए सामग्री, श्रम शक्ति ख़रीदने, उत्पादित माल के भण्डारण और उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थ व्यापारियों से माल का भुगतान आने तक उधार देने के लिए बैंक नक़द उधार, ओवरड्राफ़्ट, गारण्टी, लेटर ऑफ़ क्रेडिट, लेटर अण्डरटेकिंग, पैकिंग क्रेडिट, बिल डिस्कॉउण्टिंग, आदि कई रूपों में कारोबारी क़र्ज़ देते हैं, जो कहने के लिए तो 3, 6, 9 महीने या एक-डेढ़ साल में चुकाने होते हैं पर कभी चुकाये नहीं जाते, बस ब्याज़ चुका दिया जाता है, वह भी अक्सर अगला क़र्ज़ और बड़ी रक़म का लेकर। इसी पूँजी के बल पर सभी पूँजीपति अपने उत्पादन और कारोबार का विस्तार करते हैं, दूसरे पूँजीपतियों से प्रतिद्वन्द्विता करते हैं। पर पूँजीवादी व्यवस्था के अनिवार्य नियम से सभी पूँजीपतियों द्वारा किया जाने वाला यह निरन्तर विस्तार हर कुछ वर्ष में 'अतिउत्पादन' का संकट पैदा करता है क्योंकि अधिकांश जनता की क्रय क्षमता सीमित होने से उत्पादन बाज़ार माँग से अधिक हो जाता है। तब इन विस्तार करते पूँजीपतियों में से कुछ के लिए यह चक्र टूट जाता है, वे दिवालिया हो जाते हैं, उद्योगों की क़ब्रगाह में उन्हें दफ़ना दिया जाता है और उनके लिए क़र्ज़ एनपीए, विलफ़ुल डिफ़ॉल्टर, फ्रॉड, आदि के रूप में सामने आते हैं। साथ ही कभी-कभी विभिन्न कारणों से किसी बैंक द्वारा किसी पूँजीपति को नया क़र्ज़ नहीं मिले तब भी उसका कारोबार तबाह हो जाता है, क़र्ज़ डूब जाता है।

पिछले 4 साल में सामने आये बैंक क़र्ज़ संकट को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। 1991-92 में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में बैंक क़र्ज़ की कुल मात्रा उस समय के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की 19% थी। इसके बाद के पहले दशक 2001-02 तक यह बढ़कर 25% हो गयी। लेकिन उसके बाद 2003 से 2008 तक जो एक अस्थाई वृद्धि का दौर चला उसमें बैंक क़र्ज़ की मात्रा तेज़ी से बढ़कर लगभग दोगुनी हो गयी। अर्थात इस आर्थिक विस्तार के मूल में बैंकों द्वारा औद्योगिक-व्यापारिक पूँजीपतियों को दिये गये भारी क़र्ज़ थे। इसके बाद जब वैश्विक आर्थिक संकट शुरू हुआ तो भारत में इसके प्रभाव को टालने के लिए और अधिक बैंक क़र्ज़ दिये गये। इस तरह कुल बैंक क़र्ज़ की मात्रा बढ़कर जीडीपी का 52% हो गयी जबकि इस दौरान जीडीपी की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हुई थी। लेकिन बाज़ार संकट के प्रभाव को अधिक वक़्त तक नहीं टाला जा सका और पूँजीपतियों की लाभप्रदता में 2011-12 के साल से तेज़ गिरावट आनी शुरू हो गयी। परिणामस्वरूप 2013-14 का वर्ष आते-आते बहुत से पूँजीपतियों के लिए क़र्ज़ की किश्तें छोड़िए, ब्याज़ चुकाना भी मुश्किल हो गया। उसका नतीजा ही पिछले वर्षों में डूबते क़र्ज़ों और राइट ऑफ़ की रक़म में भारी वृद्धि है।

पर इस स्थिति से जब बैंकों के लिए संकट पैदा होता है तो वे सरकारी हों या निजी दोनों दौड़कर सरकारी मदद के लिए ही जाते हैं जो अधिक पूँजी, क़िस्म-क़िस्म की रियायतों, रिज़र्व बैंक द्वारा सस्ते क़र्ज़, आदि विभिन्न रूपों में दी जाती है और इसका बोझ अधिक टैक्स, बढ़ी क़ीमतों और सार्वजनिक सेवाओं में कटौती के ज़रिये मेहनतकश और निम्नमध्यवर्गीय जनता पर डाला जाता है। भारत में ही उदारीकरण के दौर में ही लगभग 6 लाख करोड़ रुपये पुनर्पूँजीकरण के रूप में सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को तो दिये ही हैं, साथ ही जब कोई निजी बैंक भी घाटे में गया है तो उसको या तो सरकारी बैंक में विलय या अन्य माध्यमों के ज़रिये सरकार ने ही बचाया है जिसका सारा बोझ आम मेहनतकश जनता के सिर पर ही पड़ा है। बैंकों के माध्यम से होने वाली यह लूट पूँजीवाद का अभिन्न, अनिवार्य अंग है। बैंक सरकारी या निजी होने से यह चरित्र नहीं बदलता। अमेरिका-यूरोप में यही काम निजी बैंकों के ज़रिये किया गया, कुछ बैंकों का संकट में राष्ट्रीयकरण भी हुआ। भारत में दोनों क़िस्म के बैंकों के ज़रिये हो रहा है, सरकारी बैंक ज़्यादा हैं तो ज़्यादा उनके ज़रिये ही होता है। इस प्रकार बैंक निजी हो तब तो उसका मालिक कोई निजी पूँजीपति होता ही है, बैंक सरकारी हो तब उसके मालिक सब पूँजीपति मिलकर होते हैं, क्योंकि सरकार के मालिक पूँजीपति हैं, उत्पादन के साधनों के मालिक पूँजीपति हैं! निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच की बहस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित लूट से ध्यान हटाने के लिए छेड़ी जाती है - ना तो निजी बैंक मेहनतकश जनता की लूट में कोई कमी छोड़ते हैं, ना सरकारी। दोनों को ही घाटा हो तो उसकी भरपाई आम मेहनतकश जनता से ही की जाती है।

पूँजीवाद में निजी पूँजी तो निजी लाभ के लिए है ही, सार्वजनिक क्षेत्र भी समाजवादी नहीं बल्कि राजकीय पूँजीवाद ही है जो पूँजीपति वर्ग के लाभ के लिए काम करता है। हाँ, सत्ता वाली पार्टी के क़रीबियों को अधिक लाभ होता है जिसे आपसी संघर्ष में अन्य पूँजीपति क्रोनी पूँजीवाद कहकर आलोचना करते हैं ताकि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था पर चोट न हो। पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सारा पूँजीवाद ही लूट पर आधारित है; साफ़, ईमानदार, शोषणमुक्त पूँजीवाद कभी भी, कहीं भी होता ही नहीं है। वर्तमान बैंकिंग घटनाक्रम में भी कांग्रेस आदि बुर्जुआ दलों के दृष्टिकोण से की गयी आलोचना और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से की गयी आलोचना में यह फ़र्क़ होना ज़रूरी है।

महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन के जन्मदिवस (14 मार्च) के अवसर पर उनके प्रसिद्ध लेख के अंश

समाजवाद ही क्यों?

मैं अब उस बिन्दु पर पहुँच गया हूँ जहाँ मैं संक्षेप में यह बता सकता हूँ कि मेरी राय में हमारे समय के संकट का सार क्या है। यह व्यक्ति के समाज से सम्बन्ध का सवाल है। व्यक्ति समाज पर अपनी निर्भरता के बारे में पहले से कहीं अधिक सचेत हो गया है। परन्तु वह इस निर्भरता का अनुभव एक सकारात्मक गुण, एक आवयविक सम्बन्ध, एक सुरक्षात्मक बल के रूप में नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक अधिकारों, या यहाग् तक कि अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए एक ख़तरे के रूप में करता है। इसके अलावा, समाज में उसकी स्थिति के कारण उसकी बनावट की आत्मकेन्द्रित प्रवृत्तियों को लगातार बढ़ावा दिया जा रहा है, जबकि उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ, जो प्राकृतिक रूप से कमज़ोर हैं, क्रमश: और कमज़ोर होती जा रही हैं। सारे मनुष्य, समाज में उनकी स्थिति जो भी हो, गिरावट की इस प्रक्रिया से पीड़ित हैं। अनजाने में अपने स्वयं के आत्मकेन्द्रण के क़ैदी, वे असुरक्षित, अकेला, और जीवन के सीधे-सादे, सरल, और अपरिष्कृत आनन्द से वंचित महसूस करते हैं। मनुष्य ख़तरों से भरे अपने छोटे-से जीवन में अर्थ केवल तभी पा सकता है जब वह स्वयं को समाज के लिए समर्पित करता है।

मेरी राय में, आज मौजूद पूँजीवादी समाज की आर्थिक अराजकता बुराई का असली स्रोत है। हम अपने सामने उत्पादकों के एक विशाल समुदाय को देखते हैं जिसके सदस्य लगातार एक-दूसरे को उनके सामूहिक श्रम के फल से वंचित रखने का प्रयास कर रहे हैं – बल के द्वारा नहीं, बल्कि कुल मिलाकर क़ानूनी तौर पर स्थापित नियमों का पालन करते हुए। इस सम्बन्ध में, यह समझना महत्वपूर्ण है कि उत्पादन के साधन – यानी, उपभोक्ता वस्तुओं और साथ ही अतिरिक्त पूँजीगत मालों के उत्पादन के लिए ज़रूरी पूरी उत्पादक क्षमता – क़ानूनी तौर पर कुछ व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति हो सकती है, और अधिकांशतया ऐसा ही है।

सरलता के लिए, आगे की चर्चा में मैं उन तमाम लोगों को "मज़दूर" कहूँगा जिनका उत्पादन के साधनों के स्वामित्व में हिस्सा नहीं है – हालाँकि यह शब्द प्रचलित उपयोग के अनुरूप नहीं है। उत्पादन के साधनों का मालिक मज़दूर की श्रमशक्ति को ख़रीदने की स्थिति में होता है। उत्पादन के साधनों का उपयोग करके, मज़दूर नये माल पैदा करता है जो पूँजीपतियों की सम्पत्ति बन जाते हैं। इस प्रक्रिया के बारे में बुनियादी बात मज़दूर द्वारा किये गये उत्पादन और उसको किये गये भुगतान के बीच का सम्बन्ध है, जिसमें दोनों को वास्तविक मूल्य के अनुसार मापा गया हो। जहाँ तक श्रम अनुबन्ध के "मुक्त" होने की बात है, तो मज़दूर को जो मिलता है उसका निर्धारण उसके द्वारा पैदा की गई वस्तुओं के वास्तविक मूल्य से नहीं किया जाता है, बल्कि उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं और नौकरी के लिए आपस में होड़ कर रहे मज़दूरों की संख्या के सम्बन्ध में श्रम शक्ति के लिए पूँजीपति की आवश्यकता द्वारा किया जाता है। यह बात समझनी महत्वपूर्ण है कि सिद्धान्त में भी मज़दूर का भुगतान उसके उत्पाद की क़ीमत से निर्धारित नहीं किया जाता है।

निजी पूँजी कुछ हाथों में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति रखती है, कुछ तो पूँजीपतियों के बीच होड़ के कारण, और कुछ इसलिए कि तकनीकी विकास और बढ़ता श्रम विभाजन छोटी इकाइयों की क़ीमत पर उत्पादन की बड़ी इकाइयों के गठन को प्रोत्साहित करता है। इस

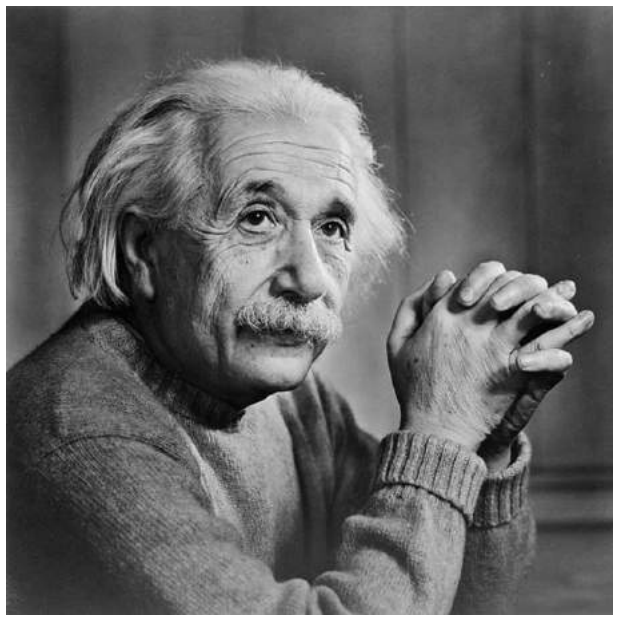

विकासक्रम का परिणाम निजी पूँजी वाले मुट्ठीभर लोगों का शासन होता है जिसकी भारी शक्ति को एक लोकतांत्रिक ढंग से संगठित राजनीतिक समाज द्वारा भी प्रभावी ढंग से नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। यह सच है क्योंकि विधायी निकायों के सदस्यों का चयन राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है, जो उन निजी पूँजीपतियों द्वारा काफ़ी हद तक वित्तपोषित या दूसरे रूपों में प्रभावित होते हैं, जो वास्तव में, विधायिका से मतदाताओं को अलग कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि जनता के प्रतिनिधि वास्तव में आबादी के वंचित वर्गों के हितों की पर्याप्त रूप से रक्षा नहीं करते हैं। इसके अलावा, मौजूदा परिस्थितियों में, निजी पूँजीपति अनिवार्य रूप से, सीधे या परोक्ष तौर पर, सूचना के मुख्य स्रोतों (प्रेस, रेडियो, शिक्षा) को नियन्त्रित करते हैं। इस प्रकार अलग-अलग नागरिकों के लिए वस्तुगत निष्कर्ष निकालना और अपने राजनीतिक अधिकारों का समझदारी के साथ उपयोग करना बहुत मुश्किल, और ज़्यादातर मामलों में बिल्कुल असम्भव होता है।

इस प्रकार, पूँजी के निजी स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था में मौजूद स्थिति की विशेषता दो मुख्य सिद्धान्तों के रूप में सामने आती है: पहला, उत्पादन (पूँजी) के साधनों पर निजी मालिकाना होता है और उनके मालिक उनको अपनी मर्ज़ी के अनुसार इस्तेमाल करते हैं; दूसरा, श्रम अनुबन्ध स्वतन्त्र होता है। बेशक, इस अर्थ में एक **शुद्ध** पूँजीवादी समाज जैसी कोई चीज नहीं होती। विशेष रूप से, इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि मज़दूरों ने, लम्बे और तीखे राजनीतिक संघर्ष के माध्यम से, मज़दूरों की कुछ श्रेणियों के लिए "मुक्त श्रम अनुबन्ध" में कुछ सुधार हासिल करने में सफलता पायी है। लेकिन कुल मिला कर वर्तमान आज की अर्थव्यवस्था "शुद्ध" पूँजीवाद से ज़्यादा अलग नहीं है।

उत्पादन लाभ के लिए किया जाता है, उपयोग के लिए नहीं। कोई ऐसा प्रावधान नहीं है कि काम करने में सक्षम और काम करने की चाहत रखने वाले सभी लोग हमेशा रोज़गार पाने की स्थिति में होंगे; "बेरोज़गारों की सेना" लगभग हमेशा मौजूद होती है। मज़दूर लगातार अपनी नौकरी खोने के डर में होते हैं। चूँकि बेरोज़गार और कम मज़दूरी पाने वाले मज़दूर एक लाभदायक बाज़ार प्रदान नहीं करते हैं, इसलिए उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन सीमित हो जाता है, और इसका परिणाम भारी मुश्किलों के रूप में सामने आता है।

तकनीकी प्रगति का परिणाम सभी लोगों के काम के बोझ को हल्का करने के बजाय अक्सर और ज़्यादा बेरोज़गारी पैदा करना होता है। मुनाफ़े की चाह और पूँजीपतियों के बीच होड़ के परिणामस्वरूप पूँजी के संचय और उसके उपयोग में अस्थिरता पैदा होती है जो उत्तरोत्तर और गहरी मन्दियों की ओर ले जाती है। असीमित होड़ श्रम की बहुत अधिक बर्बादी, और व्यक्तियों की सामाजिक चेतना के अपंग होने का कारण बनती है जिसका मैंने पहले उल्लेख किया है।

व्यक्तियों की यह अपंगता मेरे विचार में पूँजीवाद की सबसे बड़ी बुराई है। हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था इस बुराई से ग्रस्त है। विद्यार्थियों के मन में अतिरेक की हद तक प्रतियोगिता की सोच बैठा दी जाती है, जिन्हें अपने भविष्य के करियर की तैयारी के रूप में लालचभरी सफलता की पूजा करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है।

मैं आश्वस्त हूँ कि इन गम्भीर बुराइयों को खत्म करने के लिए सिर्फ़ एक ही रास्ता है, और वह है एक समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना, जिसके साथ सामाजिक लक्ष्यों को समर्पित एक शिक्षा व्यवस्था हो। एक ऐसी अर्थव्यवस्था में, उत्पादन के साधन का स्वामित्व स्वयं समाज के हाथों में होता है और उनका योजनाबद्ध तरीक़े से उपयोग किया जाता है। एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, जो उत्पादन को समुदाय की आवश्यकताओं के अनुसार समायोजित करती है, किये जाने वाले काम को काम करने में सक्षम सभी लोगों के बीच बाँट देगी और प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे को आजीविका की गारण्टी देगी। व्यक्ति की शिक्षा, उसकी ख़ुद की जन्मजात क्षमता को बढ़ाने के अलावा, उसके भीतर, हमारे वर्तमान समाज में शक्ति और सफलता की स्तुति के बजाय अपने साथी मनुष्यों के प्रति जिम्मेदारी की भावना विकसित करने का प्रयास करेगी।

फिर भी, यह याद करना आवश्यक है कि एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था अपनेआप में समाजवाद नहीं है। एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में व्यक्ति की पूरी दासता हो सकती है। समाजवाद क़ायम करने के लिए कुछ बेहद मुश्किल सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के समाधान की आवश्यकता है। राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के ज़बर्दस्त केन्द्रीकरण को देखते हुए, नौकरशाही को सर्वशक्तिमान और निरंकुश बनने से रोकना कैसे सम्भव है? व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा कैसे की जा सकती है और उसके साथ नौकरशाही की शक्ति के एक लोकतांत्रिक तोड़ को सुनिश्चित कैसे किया जा सकता है?

समाजवाद के लक्ष्यों और समस्याओं के बारे में स्पष्टता संक्रमण से गुज़र रहे हमारे युग में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। चूँकि, वर्तमान परिस्थितियों में, इन समस्याओं पर मुक्त और निर्बाध चर्चा एक शक्तिशाली निषेध के दायरे में आ गयी है, इसलिए मेरे विचार में इस पत्रिका की स्थापना एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक सेवा है।

(प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वानों लियो ह्यूबरमैन और पॉल स्वीज़ी द्वारा शुरू की गयी पत्रिका 'मन्थली रिव्यू' के मई 1949 में निकलने वाले पहले अंक के लिए आइंस्टीन ने यह लेख लिखा था।)

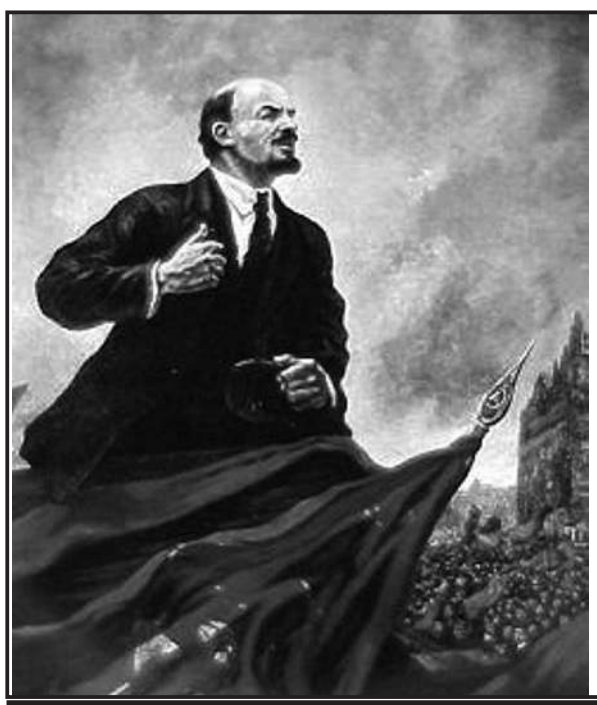

लेनिन की कविता की कुछ पक्तियाँ

यह कविता लेनिन ने 1905-7 की रूसी क्रान्ति की विफलता के बाद लिखी थी। लेनिन की यह सम्भवत: एकमात्र कविता हमारे समय की कविता की वसीयत हो सकती है। आने वाले समय के नाम, भावी पीढ़ियों के नाम:

"पैरों से रौंदे गये आज़ादी के फूल
आज नष्ट हो गये हैं
अँधेरे की दुनिया के स्वामी
रोशनी की दुनिया का खौफ़ देख ख़ुश हैं
मगर उस फूल के फल ने पनाह ली है
जन्म देने वाली मिट्टी में
माँ के पेट में, आँखों से ओझल गहरे रहस्य में
विचित्र उस कण ने अपने को जिला रखा है
मिट्टी उसे ताक़त देगी, मिट्टी उसे गर्मी देगी
उगेगा वह एक नये जन्म में
एक नयी आज़ादी के बीच वह लायेगा
फाड़ डालेगा बर्फ़ की चादर वह विशाल वृक्ष
अपने लाल पत्तों को फैला कर वह उठेगा
दुनिया को रौशन करेगा
सारी दुनिया को, जनता को
अपनी छाँह में इकट्ठा करेगा।"

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

बैंक घोटाले, भ्रष्ट मोदी सरकार और पूँजीवाद

मुकेश असीम

बैंक मानव उपभोग लायक कुछ भी उत्पादित नहीं करते। पहले उनका मुख्य काम सिर्फ़ व्यापारिक गतिविधियों की विभिन्न पार्टियों के बीच तय शर्तों और वक़्त पर सही भुगतान सुनिश्चित करना और इसका सही हिसाब रखना था। साथ ही जिनके पास अतिरिक्त धन हो बैंक उसे सुरक्षित जमा रखने और ज़रूरत के वक़्त भुगतान का कार्य भी करते थे। इस उपलब्ध धन को बैंक व्यावसायिक गतिविधियों हेतु लघु अवधि के लिए क़र्ज़ के तौर पर भी देते थे। लेकिन पूँजीपतियों के बीच कम लागत पर अधिकतम उत्पादन और बाज़ार में प्रभुत्व की प्रतिद्वन्द्विता में चल-अचल पूँजी में निवेश की ज़रूरत लगातार बढ़ने के चलते, पूँजीपतियों को शेयर पूँजी में निवेश, क़र्ज़, भुगतान गारण्टियों, आदि के रूप में पूँजी उपलब्ध कराने में बैंकों की भूमिका बढ़ती गयी। अपनी उपरोक्त वर्णित भूमिकाओं से पूँजी की बड़ी मात्रा की उपलब्धता वाले बैंकों ने उद्योग-व्यापार में मध्यस्थता से आगे बढ़कर पूरी अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण क़ायम कर लिया है क्योंकि वही पूँजीपति प्रतिद्वन्द्विता में ठहर और आगे बढ़ सकते हैं जिन्हें बैंकों के द्वारा निरन्तर बढ़ती मात्रा में पूँजी की उपलब्धता सुनिश्चित हो। इसके एवज़ में श्रमिकों की श्रम शक्ति द्वारा उत्पादित और पूँजीपतियों द्वारा हस्तगत अधिशेष मूल्य का एक बड़ा भाग बैंकों को प्राप्त होता है। इससे उनकी पूँजी लगातार विशालकाय होती गयी है। एकाधिकार पूँजीवाद के युग में तो बढ़ते मुनाफ़े की हवस में इन्होंने पूरी अर्थव्यवस्था को अपने जुए का अड्डा बना दिया है। लेकिन इस जुए में उनकी जीत होने पर तो मेहनतकश जनता की जेब कटती ही है, किसी दाँव में उनके हारने पर भी हानि की वह रक़म उनकी सेवक पूँजीवादी सरकारें विभिन्न ज़रियों से हमारी जेब से ही वसूल कर उनकी भरपाई करती है। अब मरणासन्न पूँजीवाद के संकट के दौर में तो दुनिया-भर में बैंकों के बारे में सिद्धान्त ही बन गया है - Too big to fail, too big to jail. अर्थात **बैंक इतने शक्तिशाली हैं कि कोई पूँजीवादी सरकार उन्हें डूबने देने की हिम्मत नहीं कर सकती; और उनके मालिकों/शीर्ष प्रबन्धकों को किसी भी जुर्म में सज़ा भी नहीं दे सकतीं।**

आज भारत की तस्वीर भी पूरी तरह यही है। **सिर्फ़ उदारीकरण के पिछले 25 वर्षों के इतिहास को ही देखा जाये तो बैंक बीसियों लाख करोड़ रुपये क़र्ज़ों और फ़्रॉड में डुबा चुके हैं**, कई का तो दिवाला निकल गया; कितने पूँजीपति उसके बल पर ही खरबों की सम्पत्ति के मालिक बन गये हैं। पर इसके कारण इनमें से किसी सरमायेदार, सेठ-महाजन का आज तक कुछ न बिगड़ा, बल्कि उनके पास और दौलत इकट्ठी होती गयी। कुछ दिन पहले पंजाब नेशनल बैंक में नीरव मोदी-मेहुल चोकसी समूह द्वारा किया गया फ़्रॉड सामने आने के बाद से इस क़िस्म की लूट के सामने आने का एक नया दौर ही शुरू हुआ है। इस फ़्रॉड की कुल रक़म बढ़ते-बढ़ते अब 12,700 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है, साथ ही इनकी कम्पनियों द्वारा लिये गये अन्य क़र्ज़ों को जोड़ा जाये तो कुल रक़म 21 हज़ार करोड़ रुपये से भी अधिक होने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त रोटोमैक के विक्रम कोठारी द्वारा 4290 करोड़, द्वारकादास सेठ नामक फ़र्म द्वारा 390 करोड़ रुपये, आदि कई फ़्रॉड के मामले सामने आये हैं। पर इससे पहले के सालों में भी स्थिति यही रही है। कांग्रेसी शासन के आख़िरी दो वित्तीय वर्षों में 6 हज़ार करोड़ रुपये सालाना क़र्ज़ फ़्रॉड के मामले सामने आये थे। **मोदी सरकार आने के पहले वित्तीय वर्ष में 15 हज़ार करोड़, दूसरे साल में 16 हज़ार करोड़ और तीसरे साल में 18 हज़ार करोड़ रुपये के ऐसे ही फ़्रॉड सामने आये हैं। यह चौथा साल अभी पूरा होना बाक़ी है और पिछले दिनों ख़बरों में रहे मामले ही 30 हज़ार करोड़ रुपये के लपेटे में जा पहुँचे हैं।**

लेकिन सिर्फ़ इतना ही नहीं है। एक और क़िस्म का भी फ़्रॉड है जिसे 'विलफ़ुल डिफ़ॉल्टर' अर्थात इरादतन ग़बन कर्त्ता कहा जाता है। रिज़र्व बैंक ने क़र्ज़ न चुकाने वालों में भी यह एक ख़ास श्रेणी बनायी है जिसमें बैंक मज़बूरीवश तभी किसी को डालते हैं जब क़र्ज़ लेने वाला ख़ुद ही सुसाइडल क़दम उठाकर उनके सामने और कोई विकल्प न छोड़े। इसका मतलब यह प्रमाणित और जगज़ाहिर हो चुका है कि उसने लिए हुए क़र्ज़ का ग़बन कर लिया, चुकाने की हैसियत है, फिर भी इरादतन नहीं चुकाता। पिछले साल 30 सितम्बर को ही ऐसे इरादतन ग़बन की रक़म भी बढ़कर 1 लाख 11 हज़ार 739 करोड़ पहुँच चुकी थी। इनमें 11 तो 1 हज़ार करोड़ से ऊपर का क़र्ज़ हज़म करने वाले हैं; उनमें से भी सबसे बड़ा विनसम डायमण्ड का मालिक जतिन मेहता है जो भागकर सेण्ट किट्स का नागरिक बन गया है। वैसे यह कुल रक़म भी थोड़ी कम ही दिखायी गयी है क्योंकि इसमें विजय माल्या का सिर्फ़ 3 हज़ार करोड़ ही दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त एनपीए या क़र्ज़ की अन्य डूबी हुई रक़म को जोड़ा जाये तो पिछले कुछ सालों में ही बैंकों के ज़रिये पूँजीपतियों द्वारा लूट ली गयी कुल रक़म 10 लाख करोड़ रुपये से ज़्यादा जा पहुँचेगी, जिसमें इस रक़म का कई साल का ब्याज़ शामिल नहीं, क्योंकि बैंक वसूली न होने पर इसे जोड़ना ही बन्द कर देते हैं। बट्टे खाते में डाली गयी रक़म या राइट ऑफ़ का बड़ा हिस्सा भी इसमें शामिल नहीं है। पिछले दो दशकों का हिसाब भी अगर एकत्र कर इसमें जोड़ा जाये तो सिर्फ़ उदारीकरण के दौर में ही एक भयंकर लूट का इतिहास सामने आयेगा।

लेकिन क्या वास्तव में इन मामलों को फ़्रॉड कहना सही है? फ़्रॉड कहने से ऐसा आभास होता है जैसे कि यह बैंकिंग प्रबन्धन की कमज़ोरियों का फ़ायदा उठाकर कुछ जालसाजों-ग़बनकर्ताओं द्वारा किये गये अपराध हैं जिसके ख़िलाफ़ सरकार, बैंकिंग और पुलिस-न्याय व्यवस्था जाँच और सज़ा के लिए क़दम उठा रही है। वित्त और अन्य मन्त्री, प्रशासक भी यही बयान दे रहे हैं कि रिज़र्व बैंक तथा अन्य संस्थाओं के नियामकों, प्रबन्धकों, ऑडिटरों की लापरवाही या मिलीभगत से ये अपराध हुए हैं और अब इनके ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जा रही है। परंतु सारी प्रणाली और घटनाक्रम पर ध्यान दें तो वास्तव में ऐसा नहीं है। पहली बात तो यह कि ये सब बैंकों, सीबीआई, रिज़र्व बैंक, सरकार को आज से नहीं बल्कि बहुत पहले से मालूम था। जैसे पीएनबी ने ख़ुद स्टॉक एक्सचेंज को सूचना दी है कि गीतांजलि का फ़्रॉड 2 मार्च 2017 को ही मालूम हो चुका था। कोठारी के बारे में भी डेट ट्रिब्यूनल ने 1 जुलाई 2017 को ही फ़्रॉड की घोषणा कर दी थी। द्वारकादास सेठ के मामले में भी 2015 से ही ख़बर थी, पर सीबीआई ने रिपोर्ट ही नहीं लिखी। अन्य सभी मामलों में भी ऐसी ही सूचनाएँ हैं कि यह सब वर्षों से बैंक, रिज़र्व बैंक, सीबीआई, सरकार तक सबकी जानकारी और सहमति से जारी था लेकिन अब जबकि मोदी, चौकसी, माल्या, मेहता, द्वारकादास, आदि विदेश भाग गये या रक़म विदेश या देश में ही ठिकाने लगायी जा चुकी, सुबूत नष्ट किये जा चुके तो अब इन्हें फ़्रॉड घोषित कर कार्रवाई की नौटंकी जारी है। दूसरी बात यह कि ये तो वे मामले हैं, जहाँ ख़ुद क़र्ज़ लेने वालों ने भागकर सब वैकल्पिक रास्ते बन्द कर लिये अन्यथा **भूषण, एस्सार, वीडिओकोन, यूनिटेक, आदि तमाम पूँजीपति इनसे भी बड़ी रक़में दबाकर आराम से भारत में ही मौजूद हैं, उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जाती है, उन्हें कोई फ़्रॉड भी घोषित नहीं करता, बल्कि वे पहली कम्पनियों को 'बीमार' बनाकर, नये कारोबार शुरू कर ख़ुद अपनी सेहत और दौलत को और ऊँचाइयों पर पहुँचा रहे हैं।** दिलचस्प बात यह है कि फ़्रॉड की ख़बर ज़ाहिर होने पर ख़ुद पीएनबी ने 30 बैंकों को एक पत्र भेजकर कहा कि यह फ़्रॉड अकेले उनके ही बैंक में नहीं हुआ, शेष बैंक भी इसमें शामिल थे और यह सब 7 साल से चल रहा था! इसका अर्थ है कि नीरव मोदी-मेहुल चोकसी की कम्पनियों द्वारा बैंक क़र्ज़ लेने के लिए अपनाया गया तरीक़ा कोई अजूबा नहीं था न ही चोरी-छिपे चल रहा था, बल्कि यह एक सामान्य कारोबारी तरीक़ा था जिसका चलन पूरे बैंकिंग उद्योग में है।

एक और बात प्रचारित करने का प्रयास ज़ोरों पर है कि पीएनबी, ओबीसी जैसे बैंकों में अधिक फ़्रॉड की वजह इनका सरकारी बैंक होना है क्योंकि सरकारी बैंकों में प्रक्रियाएँ कमज़ोर हैं, भ्रष्टाचार और राजनीतिक दख़लन्दाज़ी अधिक है। इसके आधार पर कई विश्लेषक इनके निजीकरण के लिए इन घटनाओं को सशक्त तर्क के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु तथ्य इस तर्क की पुष्टि नहीं करते। पहले फ़्रॉड की ही बात लें तो संसद में वित्त मन्त्रालय ने स्वयं बताया कि 2014 से 2017 के तीन सालों में बैंकों में कुल 12778 फ़्रॉड हुए जिनमें से एक तिहाई अर्थात 4156 निजी बैंकों में हुए, शेष सरकारी बैंकों में। मतलब बैंक सरकारी हैं या निजी क्षेत्र में, इससे फ़्रॉड में कोई कमी-बेशी नहीं होती। फिर चोकसी के गीतांजलि समूह को क़र्ज़ देने वाले बैंकों के समूह का नेतृत्वकारी बैंक निजी क्षेत्र का आईसीआईसीआई बैंक ही है। फिर भी गीतांजलि समूह को मात्र 100 करोड़ रुपये की जमानत पर 5280 करोड़ रुपये का क़र्ज़ मिला था। उसके पास पिछले साल मार्च से ही ऑडिटरों द्वारा इसके पूरे कारोबार के सन्देहास्पद होने की जानकारी भी थी, लेकिन उससे भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। थोड़ा अतीत में जायें तो हर्षद मेहता से लेकर केतन पारीख के शेयर बाज़ार फ़्रॉड एवं अन्य मामलों में देशी-विदेशी बैंकों की लिप्तता की जानकारी भी जगज़ाहिर है जिनके विरुद्ध भारतीय सरकार और नियामकों ने कभी कोई कार्रवाई नहीं की है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी बैंकों के दिवालिया होने का एक बड़ा लम्बा इतिहास है, उसको कोई धूर्त ही नज़रअन्दाज़ कर सकता है। यूरोप-अमेरिका से शुरू हुए वैश्विक वित्तीय संकट में भी वहाँ के विशाल निजी बैंक ही शामिल थे जिनमें से कई को तो बचाने के लिए वहाँ की सरकारों को उनका राष्ट्रीयकरण करना पड़ा जिसका सारा बोझ वहाँ की मेहनतकश जनता पर टैक्स लगाकर या 'ख़र्च कटौती' के नाम पर शिक्षा-स्वास्थ्य की सुविधाओं से वंचित कर पूरा किया जा रहा है। सबसे बड़ी बात तो यह कि अगर निजी क्षेत्र इतना स्वच्छ और कार्यकुशल है तो नीरव मोदी, चोकसी, कोठारी, माल्या, मेहता, द्वारकादास, आदि सब तो निजी क्षेत्र के ही हैं, फिर इन्होंने फ़्रॉड क्यों किये?

यहाँ एक सवाल उठाया जायेगा कि अगर क़र्ज़ डूबने और फ़्रॉड होने में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है, तब फिर सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक हानि में और निजी क्षेत्र के बैंक लाभ में क्यों हैं? हालाँकि हम सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में सत्ताधारी पार्टी के क़रीबियों को कुछ हद तक अधिक फ़ायदा पहुँचाये जाने की बात से इंकार नहीं कर सकते, लेकिन लाभप्रदता में अन्तर का सबसे मुख्य कारण तो निजी क्षेत्र के बैंकों द्वारा रोज़गार की गारण्टी और असंगठित श्रमबल का सार्वजनिक क्षेत्र के संगठित कर्मचारियों के मुकाबले अधिक शोषण है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में जहाँ कुल परिचालन ख़र्च का 60% से अधिक कर्मचारियों पर होता है, वहाँ निजी क्षेत्र के बैंकों में यह अनुपात 40% से भी कम है। साथ ही प्रति कर्मचारी अधिक उत्पादकता अर्थात काम का ज़्यादा बोझ और लम्बा कार्यदिवस भी अधिक अधिशेष मूल्य पैदा करता है।

स्पष्ट है कि **इतनी बड़ी मात्रा में डूबे क़र्ज़ों और फ़्रॉड की परिघटना को न तो निजी-सरकारी बैंकों के अन्तर के आधार पर समझा जा सकता है, न ही कांग्रेस-भाजपा की नीतियों में भेद के आधार पर, और न ही कुछ अपराधियों द्वारा किये गये फ़्रॉड कहकर। इसे समझने के लिए हमें वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में बैंक, बीमा, आदि वित्तीय क्षेत्र और उद्योग-व्यापार क्षेत्र के पूँजीपतियों के परस्पर सम्बन्धों को समझना चाहिए।** पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक पूँजीपति को प्रतिद्वन्द्विता में टिके रहने, अधिक से अधिक बाज़ार हासिल करने और अपना अधिकतम मुनाफ़ा सुनिश्चित करने के लिए निरन्तर अधिक से अधिक चल-अचल पूँजी के निवेश की आवश्यकता होती है। आज एक ओर तो उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पहले ही पूँजी की जकड़बन्दी होने से बाज़ार के विस्तार की सम्भावनाएँ बहुत सीमित हो चुकी हैं, दूसरी ओर हर उद्योग में कुछ पूँजीपतियों का एकाधिकार क़ायम हो चुका है। इसलिए दूसरे को पछाड़कर आगे बढ़ने की यह होड़ अत्यन्त गलाकाट हो चुकी है। इसलिए सभी पूँजीपतियों के लिए वित्तीय पूँजीपतियों से अधिकाधिक पूँजी प्राप्त कर अपने कारोबार को निरन्तर विस्तारित करने का दबाव हमेशा बना रहता है। फिर स्वयं बैंक, बीमा, आदि वित्तीय पूँजीपतियों में भी एकाधिकार की होड़ है और उन्हें भी आवश्यकता रहती है कि वे अपना बाज़ार हिस्सा बढ़ाने हेतु ज़्यादा से ज़्यादा कारोबारियों का वित्तीय पोषण कर उनके द्वारा हस्तगत अधिशेष में अपनी हिस्सेदारी और मुनाफ़ा सुनिश्चित करें। दोनों का यह परस्पर हित निश्चित करता है कि बैंक उद्योग-व्यापार की अधिक से अधिक कम्पनियों को क़र्ज़ और निवेश के विभिन्न रूपों में अधिकाधिक वित्तपोषण करते रहें।

इस प्रक्रिया को नीरव मोदी के कारोबार के उदाहरण के ज़रिये भी समझा जा सकता है। मोदी की तीनों कम्पनियों में उसकी अपनी कुल जमा पूँजी मात्र 400 करोड़ रुपये थी। बैंकों ने उसे 3992 करोड़ का क़र्ज़ दिया हुआ था, ऊपर से अब तक 12700 करोड़ के एलओयू सामने आये हैं। रायटर्स के मुताबिक़ कुल 20 हज़ार करोड़ उसे 'सरकारी' बैंकों ने दिया था, जिसके बल पर उसका सारा व्यापार, दौलत खड़ी हुई थी। उसकी कम्पनियाँ इस वित्तीय पूँजी के सहारे ही तेज़ी से विस्तार कर रही थीं और वह दुनिया-भर के देशों में अपने नये-नये स्टोर खोल रहा था। वास्तविकता यह है कि उसने कभी कोई क़र्ज़ वापस नहीं किया। बल्कि वह हर बार पहले से बड़ा क़र्ज़ लेता था, जिससे पिछले क़र्ज़ को जमा दिखाया जाता था। इसके बल पर ही वह बड़ा पूँजीपति बना था; इस पूँजी से ही उसका मुनाफ़ा आता

(पेज 14 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006